अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

जनवरी, 2012

नववर्ष की अनन्त मंगलकामनाएं

उजास का आमंत्रण

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतम्गमय।

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : ३७ अंक : १
जनवरी, २०१२
पौष-माघ वि.सं. २०६८

सम्पादक
रमेश थानवी

प्रबन्ध संपादक
प्रेम गुप्ता

प्रकाशन संपादक
दिलीप शर्मा

- एक प्रति पन्द्रह रुपए
- वार्षिक सहयोग राशि एक सौ पचास रुपए
- संस्थाओं के लिए दो सौ पचास रुपए
- व्यक्तिगत सदस्यों के तीन वर्ष का चार सौ रुपए
- संस्थाओं के लिए तीन वर्ष का छः सौ रुपए
- मैत्री समुदाय की सहयोग राशि पन्द्रह सौ रुपए

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
७-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र
जयपुर-३०२ ००४
फोन - २७०७६९८, २७००५५९
फैक्स - ०१४१-२७०७४६४
ई मेल - raeajaipur@indiatimes.com
thanviramesh@gmail.com

क्रम
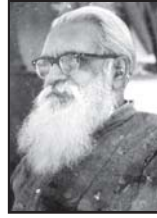
पाठक अब इंटरनेट पर अनौपचारिका नीचे लिखे लिंक पर ऑन लाइन पढ़ सकते हैं -
http://speakerdeck.com/u/anoupcharika/p/jan-2012
अनौपचारिका के पिछले अंक भी आप नीचे लिखे लिंक पर देख सकते हैं -
http://speakerdeck.com/u/anoupcharika/p/dec-2011
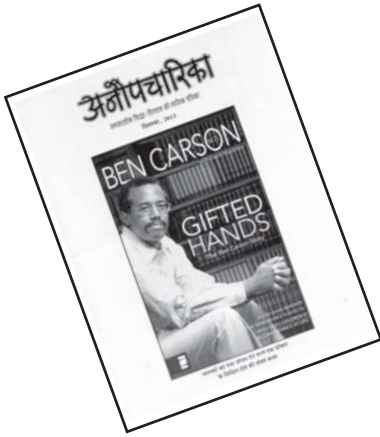
जयपुर से आर.सी.भंडारी

अक्टूबर-नवम्बर, २०११ के संयुक्तांक में आपके संपादकीय **कबीर का करघा और गांधी का चरखा** एक संदेशात्मक संकेत है। आज के मशीनी युग में चरखे-करघे में मानवता का जो संदेश छिपा है उसके ही सत्य के रूप में उजागर होने का संकेत मिलता है। सत्य कभी भी तर्क की नींव पर खड़ा नहीं किया जा सकता। सत्य को जानने समझने के लिए सत्य ही आधार है।

सबके सहयोग से संवरता जीवन में लेखक ने व्यक्ति के जीवन की विभिन्न पगडंडियों पर चलते हुये मंजिल तक पहुंचने के लिए सहयोग की आवश्यकताओं का अत्यन्त ही सुन्दर चित्रण किया है। यह ठीक भी है क्योंकि प्रत्येक के जीवन का प्रारम्भ सहयोग से शुरू होता है । जब जन्म लेते ही दूसरों की कोमल गोद का स्पर्श मिलता है और जीवन का अन्त भी सहयोग से पूरा होता है। मृत्यु हो जाने पर दूसरों के कंधों का सहारा लेना होता है। तो फिर इन दोनों छोरों के बीच जीवन को अकेले गुजारना कैसे संभव हो सकता है ? पग-पग पर सहयोग का आदान-प्रदान वांछित रहता ही है।

अनुपमजी का **दीक्षान्त भाषण** सचमुच में अनुपम है अनुकरणीय भी है। सुन्दर, सहज, सरल शैली में शब्दों की मणिमाला पेश की गयी है। दीक्षान्त की बजाय दीक्षारम्भ शब्द का प्रयोग, जो गुरु के दोषों को एक छत्र की तरह ढक दे-वह छात्र, बहता पानी और छोटा से गुड्ढे से मिलने वाली प्रेरणा आदि कथन विचारणीय है। ❑

सीकर से मुकेश कुमार ढाका

मेरा परिचय - मैं एक किसान का पुत्र हूं तथा सीकर से ६ किलोमीटर दूर सिहोर छोटी गांव में रहता हूं। मेरा जन्म १९९२ में सिहोर छोटी में हुआ। मैंने १० वीं तथा १२ वीं की पढ़ाई गांव से की है। बी.एससी. (स्नातक) सीकर जिला मुख्यालय से की है। और इस समय मैं प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के साथ-साथ नेहरू युवा केन्द्र में सदस्य होने के नाते मंडल के सदस्यों के साथ अनेक प्रकार की गतिविधियां संपन्न करता हूं। ❑

अनौपचारिका ने करवाया उपवास

मैंने आज तक नहीं किया था उपवास
बचपन में एक बार कभी किया
और बहुत कष्ट पाया
तब से उपवास से टूट गया विश्वास
और रुठ गया मन मेरा
सोचा आज के बाद
नहीं करूंगा उपवास
बिन मतलब मरूं क्यों भूखा ?
मन होगा सच्चा
तो सब कुछ होगा अच्छा॥

मगर अनौपचारिका ने ऐसे करवाया उपवास

मैं किसी काम से बस स्टेण्ड गया और संयोग से डाकिया मिल गया। डाकिया ने आवाज लगाई-मुकेश। मेरा मन हिल गया। मैंने सोचा कॉललेटर मिल गया पर डाकिया ने कहा-किताब है, मैंने सोचा ये तो और भी अच्छी बात है। मैं दौड़ा-दौड़ा घर आया और झट से पत्रिका को उठाया पत्रिका पढ़ते-पढ़ते शाम हो गई और आज की रोटी तो बेकार हो गई। ऐसे तो मैं पत्रिका को २ घंटे में पढ़ सकता, परन्तु पत्रिका पढ़ते-पढ़ते कुछ सोचने लग गया और सोचने के बाद फिर पढ़ने लग गया। मैंने पत्रिका की बात को पढ़ा था खास, तभी तो मेरा हुआ था उपवास।

मैंने रात को रोटियां खायी और उसके बाद दो बात दिमाग में आयी-

पहली बात - समाज का कल्याण तो करुंगा पर अपना पेट कैसे भरुंगा ? अगर नहीं की प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी तो पढ़ाई हुई बेकार सारी। तो सोचा थानवीजी से पूछूंगा- किस फील्ड में जाया जाये ताकि समाज व देश का भी कल्याण हो जाये और मेरा भी जीवन सफल हो जाये।

दूसरी बात - मैं करता हूं जब समाज का भला, तो बीच में आ जाती है एक और बला। गांव के लोग सोचते हैं यह क्या करेगा विकास। यह तो अभी बच्चा है अक्ल से कच्चा है।

पर उनको नहीं पता कि - ये बच्चा तो है पर अक्ल से अच्छा है। तो आपसे है गुजारिश कि उन्हें कैसे समझाया जाये और किस फील्ड में जाया जा जाये ? ❑

अपनी बात

आशा और उम्मीद का नव वर्ष

अनौपचारिका के पाठकों को समिति-परिवार की तरफ से नये वर्ष का राम-राम एवं अनन्त-मैत्री और मंगलकामनाएं।

हमें इस वर्ष की शुरूआत नयी आशा और उम्मीद के साथ करनी है। मन में नया विश्वास जगाना है कि यह वर्ष हम सबको सीखने के नये अवसर देगा और हम साथ-साथ सीखते हुए अपने आंतरिक उन्नयन की राह पर अग्रसर होते रहेंगे। आशा का आधार शिक्षा है। शिक्षा जड़ता को तोड़ती है । निराशा से निजात दिलाती है और मन में नया विश्वास जगाकर हमको अगले पल के प्रति आश्वस्त करती हुई नये द्वार खोल देती है। जब भी नया द्वार खुलता है थोड़ी सी ताजी हवा झोंके के साथ हमें नये प्राण दे जाती है और उसके साथ ही एक ऐसा उजास प्रकट होता है जिसे देखकर हम आंखें मूंद लेते हैं और जिसने यह उजास भेजा है उसके प्रति नत-मस्तक हो जाते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि शिक्षा हमारे लिए ऐसे द्वार नित खोलती रहे और हम सभी सिर्फ आलोक की दुनिया में विचरण करते रहें, अंधेरा कभी पास भी न फटके।

अंधेरे की भी जिद बड़ी विचित्र होती है। कभी वह किसी कोने में जा बैठता है, तो कभी हमारे मन में प्रवेश कर अंतर्तम को कलुषित करने की चेष्टा करता है। अंधियारा केवल वह नहीं होता है जो बंद कमरों में पाया जाता है बल्कि वह भी होता है जो शिक्षा की अनुपस्थिति में हमारे मन-मस्तिष्क को घेर लेता है। मोह, माया और अहंकार से घिरा हमारा मन-मस्तिष्क निरन्तर अंधेरों की रचना करता चलता है और एक समय ऐसा भी आता है जब हम रोशनी के रास्ते भूल जाते हैं। हमारी प्रार्थना है कि प्रभु हमारे जीवन में ऐसा क्षण न आने दे जब हम रोशनी का रास्ता भूल जायें। हमारी मंगल-कामना है कि सभी पाठक नये-नये द्वार खोलने का कौशल हासिल करते चलें और सदा रोशनी की राह पर चलते चलें।

रोशनी की एक छोटी-से-छोटी किरण हमारी आशा को नया आधार दे सकती है। मन में नया विश्वास जगा सकती है। कठिन से कठिन समय में हमको निराशा से दूर रख सकती है। हताशा से बचा सकती है और तब हम अपने लिए नये से नया संसार रचते हुए नयी से नयी मंजिल पा सकते हैं। नये और मनचाहे मुकाम तक पहुंच सकते हैं।

अपने लिए आशा और विश्वास रचने वाले लोग दूसरों को भी निराश नहीं होने देते । औरों को भी आलोक की दुनिया में अपने साथ लिये चलते हैं। हमारा भी आमंत्रण है कि आओ, हम आलोक की दुनिया में साथ चलें, अकेले जाने में तो भला क्या आनन्द है ? फिर भी यह एक अलग बात है कि बुलाने पर भी यदि कोई न आये तो फिर अकेले ही चलना है और तब **कवि गुरु** याद आते हैं - **जॅदी तोर डाक सुनी केउ ना आसे, तॅबे अेकला चॅलो।** फिर भी आग्रह और अनुरोध हमारा यही है कि आओ, हम साथ चलें। सदा साथ चलें।

इस वर्ष की एक नयी बात यह भी है कि इसे **गणित का वर्ष** घोषित किया गया है। अगर हम गणित का वर्ष मनाते हैं तो हमें पहला पाठ यह पढ़ना पड़ेगा कि हम गिनती को भूल जायें। गणना सीखना और सिर्फ गिनते रहना कोई ज्ञान की बात नहीं है। निरा अज्ञान है यह। असली गणित तो कुदरत जानती है जो सदा बिना किसी गिनती के हजारों फूल खिला देती है, लाखों क्विंटल अनाज पैदा कर देती है और किसी भी पेड़ को कभी भी गिन-गिन कर पत्तों से हर भरा नहीं बनाती है। वैसे भी भारतीय गणित की सबसे बड़ी देन **शून्य** है। दुनिया को और दुनिया की गणित को **शून्य** भारत ने ही दिया था और शून्य अपने को पा लेने का सबसे बड़ा साधन है। जो **शून्य** को नहीं अन्वेषित कर सकता और उसे नहीं पा सकता वह भला अपने करीब भी क्या पहुंचेगा। तो मित्रो, हमारा निवेदन है कि अपने को पाने और अपने साथ होने के लिए यह जरूरी है कि हम **शून्य** को पा लें और गणना को भूल जायें तभी हम गणित का सच्चा वर्ष मना सकेंगे और दुनिया को तेजी-मंदी से बचाते हुए निन्यानवें के फेर से भी बचा ले जायेंगे। आइये, हम नयी गणित सीखें और उसके साथ-साथ भोग-विलास से अपने आप को बचाते हुए त्याग करके भोग करने का गणित भी सीखें तभी हम सच्चे उपभोक्ता बन सकेंगे। विद्यार्थी सदा उपभोक्ता ही होता है ; वह कभी पूर्ण भोक्ता नहीं होता। वह औरों के लिए जीना जानता है, उनके लिये बचाना जानता है और सकल चरा-चर जगत् के लिए जीने देने की जगह बनाना जानता है। अच्छा तो यही होगा कि हम भी ऐसे विद्यार्थी बनें और यह वर्ष नयी आशा और उम्मीद के साथ शुरू करें। रोशनी के अतुलित आकाश में अवगाहन करें और निरन्तर अपने उन्नयन को सुनिश्चित करें।

पुनः नव-वर्षाभिनन्दन। ❑ **रमेश थानवी**

जीवन के भाष्यकार काका कालेलकर

❑
वर्षादास

काका साहेब कालेलकर गांधीजी के अनन्य मित्र थे, सहयोगी थे और उनके साथ निरन्तर विचार-विमर्श करते रहने वाले सखा थे। गांधीजी की किताब 'हिन्द-स्वराज' की प्रस्तावना भी काका साहेब ने लिखी और गांधीजी ने बाल-पोथी बनायी तो उस पर भी उन्होंने अपनी टिप्पणी दी। जाहिर है कि दोनों में विचार-विनिमय भी होता रहता था और वैचारिक साम्य बनाये रहने का प्रयत्न भी चलता रहता था। सच्चा सहकर्मी तो ऐसा ही होता है।
पिछले दिनों 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' ने काका साहेब कालेलकर के एक सौ पच्चीस वर्ष पूरे होने पर वर्ष भर पूरे भारत में कई आयोजन किये। फिर दिल्ली में काका साहेब की एक सौ पच्चीसवीं जयन्ती के अवसर पर एक समारोह किया। यह समारोह गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर और गांधीजी के वैचारिक अवदान पर केन्द्रित था। अध्यक्षता की थी श्रीमती वर्षा दास ने और उनका अध्यक्षीय उद्‌बोधन यहां प्रस्तुत है। ❑ सं.

गांधीजी ने नैतिकता को महत्त्व दिया-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में; व्यवहार में और रिश्तों में। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रेम और सौन्दर्य को महत्त्व दिया। दोनों का मनुष्य की मानवयीता पर अटूट विश्वास था। दो व्यक्तियों की सोच में अंतर हो सकता है, लेकिन अनादर कभी नहीं। इन सभी का निचोड़ काका साहेब के जीवन और कार्य में पाया जाता है। इसीलिए वे गांधीजी और गुरुदेव के भाष्यकार तो थे ही, काका साहेब जीवन की समग्रता के भाष्यकार थे।

काका साहेब के साथ मेरे परिवार का बहुत पुराना रिश्ता है। उनकी मृत्यु के बाद उनको श्रद्धांजलि देते हुए एक लेख में मेरे पिताजी, मोहनलाल मोहता 'सोपान' ने लिखा था कि उनके ऊपर काका साहेब का बहुत बड़ा ऋण था। किशोरावस्था में उनमें राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ था-काका साहेब के लेखों को पढ़कर। उन्होंने जब काका साहेब का प्रथम लेख संग्रह **कालेलकरना लेखो** पढ़ा तो पत्र लिखने की हिम्मत जुटाई और फिर उनका पत्र व्यवहार चलता रहा। १९३० में जब स्वराज प्राप्ति के संघर्ष में शामिल हुए तो उसके पीछे भी काका साहेब की प्रेरणा और मार्गदर्शन थे। काका साहेब ने उनको विद्यार्थियों की **अरुण टुकड़ी** में शामिल होने के लिए प्रेरित किया था। राणपुर से अमृतलाल शेठ द्वारा प्रकाशित अखबार **'सौराष्ट्र'** में धोलेरा नमक सत्याग्रह में शामिल होने के लिए युवकों को ललकारा गया था। मेरे पिताजी की उम्र तब २० वर्ष की थी। वे तुरंत घर छोड़कर निकल पड़े। काका साहेब के साथ बंधे हुए उस तंतु ने उनको खींच लिया। यह घटना यदि न घटी होती तो मेरे पिताजी का पत्रकारिता और साहित्यसृजन के क्षेत्र में प्रवेश न हो पाता। काका साहेब ने उनके

लेखन कार्य में काफी रुचि ली थी, और जब १९५८ में उनका **'पुण्यप्रवास'** नामक उपन्यास एवं आध्यात्मिक लेखों के दो संग्रह **दीपमंगल** और **दृष्टिमंगल** प्रकाशित हुए तो काका साहेब ने वे पुस्तकें पढ़ने के लिए मंगवाई थी। तब पिताजी ने उसका कारण पूछा था। काका साहेब ने कहा, उन पुस्तकों के बारे में मैंने सुना है। मैं जानना चाहता हूं कि तुम्हारा विकास कितना और किस प्रकार का हुआ है।' पिताजी ने धन्यता का अनुभव किया था और काका साहेब से कहा था, इस बीज को आप ही ने बोया था, और उसका सिंचन भी आप ही के हाथों हुआ है...। **(विभूति वंदना, सोपान पृ.२६१)**

इस घटना से मैंने क्या सीखा ? यही कि किसी को प्रोत्साहन दें, किसी का मार्गदर्शन करें तो उसे बीच रास्ते न छोड़ दें। समय-समय पर यह भी देख लें कि उस व्यक्ति की प्रगति सही दिशा में हो रही है या नहीं ? चरित्र निर्माण का यह महत्त्वपूर्ण बिन्दु गांधीजी और गुरुदेव दोनों में था, जो काका साहेब ने आत्मसात किया था।

काकासाहेब तत्त्वचिंतक थे, शिक्षाविद् थे, प्रकृति प्रेमी भी थे। व्यक्तित्व के ये तीनों श्रेयस्कर आयाम गांधीजी और गुरुदेव में थे। काका साहेब के चिंतन में सौंदर्य, माधुर्य और मांगल्य का समन्वय था। दक्षिण गुजरात के वनस्पति प्रेम खादीधारी व्यक्ति श्री इस्माइल भाई नागोरी 'वनस्पति जीवन दर्शन' नामक एक पुस्तक हिन्दी में लिखी थी। इसका प्रकाशन सन् १९७८ में **जूनागढ़** जिले के **केशोद** में स्थित **सोरठ क्षयनिवारण समिति** ने किया था। खद्दर की जिल्दवाली यह पुस्तक पोथी की तरह खुलती है। लाल और हरे रंग के बार्डर से प्रत्येक पृष्ठ को सुशोभित किया गया है। इस पुस्तक की प्रस्तावना काका साहेब ने लिखी है। वे कहते हैं, 'जीवन में वनस्पति-सृष्टि का सहवास, और शिक्षण में वनस्पति-सृष्टि का गहरा और सप्रमाण परिचय बहुत जरूरी है।' काका साहेब की यह बात एक ऐसा सच है जो जीवन के सातत्य को बनाये रखती है, जिसे क्रिया में परिवर्तित किया जा सकता है। यह एक ऐक्शन-ओरियेन्टेड संकल्पना है।

कुछ आगे चलकर काका साहेब ने इन्वायरमेंट और इकोलोजी को भी इतनी ही सहजता से समझाया है। शब्दकोश में देखें याने पर्यावरण और इकोलोजी यानी

काकासाहेब तत्त्वचिंतक थे, शिक्षाविद् थे, प्रकृति प्रेमी भी थे। व्यक्तित्व के ये तीनों श्रेयस्कर आयाम गांधीजी और गुरुदेव में थे। काका साहेब के चिंतन में सौंदर्य, माधुर्य और मांगल्य का समन्वय था।

परिस्थितिकी/पर्यावरण तो समझ में आ जाता है, किन्तु पारिस्थितिकी याने क्या ? काका साहेब समझाते हैं, कि जीवशास्त्र, याने बायोलोजी की एक शाखा है, इकोलोजी। इस की स्पष्टता मैं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करती हूं, 'जीव-सृष्टि की जीवन-साधना की गहरी शोध को ही इकोलोजी कहते हैं। इस में वनस्पति, पशुओं और मनुष्यों के आसपास के वातावरण का अध्ययन किया जाता है। इसके द्वारा जलचर, भूचर और खेचर सृष्टि के पशु-पक्षी, मनुष्य इत्यादि प्राणी-सृष्टि का वनस्पति के साथ किस तरह का संबंध है यह स्पष्ट हो जाता है। जिससे **'जीवों जीवस्य जीवम्'** एक जीव दूसरे जीव को आहार बनाकर जीता है, अध्यात्म शास्त्र का यह सत्य सिद्ध होता है। साथ ही परस्पर उपग्रहो जीवानाम्, सभी जीव परस्पर एक दूसरे के सहकारी हैं, वे अपनी सेवाओं का आदान-प्रदान किया करते हैं, यह सिद्धान्त भी सच्चा सिद्ध होता है।

सृष्टि के विकास में जीवन की उत्पत्ति एक महत्त्वपूर्ण अभियान था।... जब मनुष्य पैदा हुआ, तब उसके साथ ही नैतिक और आध्यात्मिक संबंधों की समझ भी जागी। इसको हम व्यापक अर्थ में धर्म-भावना कहते हैं। ... हम वनस्पति सृष्टि से सेवाएं लेंगे, तो बदले में उसकी सेवा भी अवश्य करेंगे।... हम केवल अपनी बुद्धि से वनस्पति-सृष्टि का रहस्य समझ लें, तो यह हमारी अधूरी साधना कही जाएगी। इसके रहस्य को हम भली-भांति अपने हृदय से समझ लें, इसे अपना लें, तभी हमारी साधना पूरी होगी, हमें पूरा संतोष और तृप्ति, दोनों एक साथ प्राप्त हो सकेंगे।

काका साहेब की उस प्रस्तावना से इतना बड़ा उदाहरण देने के लिए क्षमा चाहती हूं। पर्यावरण, पारिस्थितिकी, इनका मनुष्य के साथ अटूट संबंध, जीवन जीने का संबल
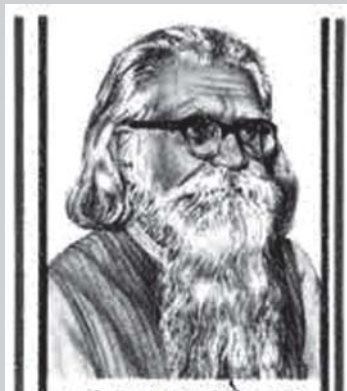
मैंने इस उद्धरण से समझा। विज्ञान और अध्यात्म का परस्पर अवलंबन जो मनुष्य के सुख के लिए अनिवार्य है, यहां कितनी सहजता से बताया गया है।

इसी प्रस्तावना में काका साहेब ने भाषा संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उसी वरस्पति जीवन दर्शन पुस्तक के संदर्भ में वे कहते हैं- ''प्रस्तुत पुस्तक में स्थान-स्थान पर अंग्रेजी शब्दों और अंग्रेजी परिभाषाओं का प्रयोग किया गया है। मैं इस शैली का समर्थक हूं। पाश्चात्य विद्वानों के परिश्रम से जब कोई नया विचार दृढ़ और रूढ़ हो जाता है और चालू सिक्के की तरह व्यवहृत होने लगता है, तब उस स्थिति में हम अपनी भाषा में उसको स्वीकार कर लें, तो मुझे इसमें किसी भी तरह की आपत्ति प्रतीत नहीं होती। पश्चिम के लोग भी तो **सत्याग्रह** जैसे हमारी भाषाओं के शब्द लेते ही हैं। प्रारंभ में अंग्रेजी शब्दों का पर्याय अपनी भाषा में देना चाहिए। पश्चिम के पारिभाषिक शब्द हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा दुराग्रह व्यर्थ है।''

यह पढ़ने के बाद मैंने अपने आप से पूछा कि किस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग पहले हुआ था ? इकोलोजी या पारिस्थितिकी ? हमारी पीढ़ी के लोगों ने, अपनी बात कहूं तो मैं ने 'पारिस्थितिकी' शब्द सुना उससे पहले इकोलोजी शब्द सुना था। एक और बात, इकोलोजी के लिए तेलुगु में, पंजाबी में, कश्मीरी में, असमिया में न जाने कौनसा शब्द होगा, परन्तु इकोलोजी शायद सभी भाषाओं के विद्यार्थी समझ जाएंगे। क्या सत्याग्रह शब्द को किसी अन्य भाषा में अनुवादित किया जा सकता है ? सत्याग्रह में जो बात है, वह पेसिव रजिस्टेंस में कहां ?

पिछले दिनों काका साहेब की एक गुजराती पुस्तक **जीवन प्रदीप** हाथ में आयी। काका साहेब इस पुस्तक को कोई ग्रंथ नहीं, उन्हें हर तरह से स्वतंत्र रखने वाला मंगलमूर्ति व्यक्ति मानते हैं। पुस्तक के प्रथम प्रकरण 'गीता का महत्त्व' में वे कहते हैं, सामान्य मनुष्य या लगभग सभी व्यक्ति कर्म की कसौटी सुख-दुख से करते हैं। जिस कर्म से सुख मिलता है उसे करने की ओर मनुष्य प्रेरित होता है, और जिससे दुःख होता है उससे भागता है। इस भूल के कारण मनुष्य दुनिया में ठीक से बर्ताव नहीं कर पाता। उसे धर्म का ज्ञान नहीं मिलता। मनुष्य यदि इतना समझ जाय कि किसी भी कर्म का अच्छापन सुख से सिद्ध नहीं होता, और दुःख से उसका बुरापन सिद्ध नहीं होता, तो सुख-दुख का उसके आचरण पर असर नहीं होगा। तब उसे सहजरूप से धर्म समझ में आयेगा और सुख-दुख के आघातों के बावजूद वह विचलित नहीं होगा। संक्षेप में गीता कहती है कि 'नैतिक दृष्टि से देखें तो सुख-दुःख का कोई मूल्य नहीं है।'
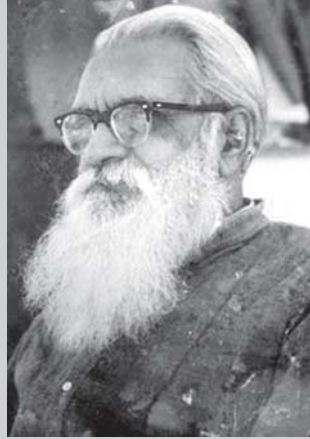
समाज में आज उल्लास चाहिए, विलास नहीं, नृत्य चाहिए, निद्रा नहीं। आधुनिक आंदोलन के कारण सामाजिक दुःख दूर करने की ओर गतिविधि हुई तो है, परन्तु सामाजिक दुःख किस में है उसे परखने की शक्ति या दृष्टि अभी समाज को प्राप्त नहीं हुई है। हृदय का जीर्णोद्धार करो, फिर समाज का, धर्म का, संस्कृति का जीर्णोद्धार अपने आप होगा।

वाकई, इन्सान यदि इतनी बात समझ ले तो किसी प्रकार की उलझन न रहे। काका साहेब की इस पुस्तक ने मुझे समझाया कि मेरे माता-पिता ने मुझ में जिन मूल्यों का सिंचन किया, मेरे गुरू डॉ.दाईसाकू ने उन्हें और दृढ़ बनाया, वहीं वास्तव में शाश्वत सत्य है। सुखदुख की चिंता नहीं करनी है।

अंत में काका साहेब की गुजराती पुस्तक **जीवननुं काव्य** से कुछ पंक्तियां पृ. १११ पर दी गयी विचार-कलिकाओं से इन्हें लिया है -

- ❑ समाज में आज उल्लास चाहिए, विलास नहीं, नृत्य चाहिए, निद्रा नहीं।
- ❑ आधुनिक आंदोलन के कारण सामाजिक दुःख दूर करने की ओर गतिविधि हुई तो है, परन्तु सामाजिक दुःख किस में है उसे परखने की शक्ति या दृष्टि अभी समाज को प्राप्त नहीं हुई है।
- ❑ हृदय का जीर्णोद्धार करो, फिर समाज का, धर्म का, संस्कृति का जीर्णोद्धार अपने आप होगा ❑

नई दिल्ली स्थिति गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा द्वारा आयोजित संगोष्ठी 'महात्मा गांधी और गुरुदेव टैगोर के भाष्यकार काका साहेब कालेलकर, १-२ दिसम्बर, २०११ के दौरान दूसरे सत्र में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और जीवन

❑
विजयशंकर

बीकानेर प्रौढ़ शिक्षण समिति में हर वर्ष की तरह इस बार भी डॉ. छगन मोहता स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया। व्याख्यान देने आये थे दिल्ली से भाई विजयशंकर । पाठक जानते हैं कि डॉ. छगन मोहता का पूरे भारत के साहित्य और सांस्कृतिक जगत् को बेमिसाल योगदान है। उनकी एक पुस्तक संक्रांति और सनातनता हर पाठक के लिए पठनीय है और हर घर की शोभा बन सकती है। ऐसे ही मनीषि का स्मरण करते हुए जो व्याख्यान दिया गया वह यहां अविकल रूप से प्रस्तुत है।। ❑ सं.

आज जिस विषय पर मैं आपसे चर्चा करने जा रहा हूं उसका विषय है **'सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और जीवन।'** ये तीन शब्द हैं। **संस्कृति**, **अभिव्यक्ति** और **जीवन**। मैं अपनी बात एक प्रश्न से शुरू कर रहा हूं। **क्या आज हमारी कोई सांस्कृतिक छवि हैं?**

मनुष्य होने का अर्थ हर किसी को स्वयं के लिए परिभाषित करना पड़ता है। मनुष्य एक इकाई है। पशु, पक्षी, जानवर, पेड़-पौधे, जड़ चेतन और सारी सृष्टि के मध्य मनुष्य का जन्म हुआ है। करीब-करीब सभी मामलों में हम अन्य जीवों से साम्य रखते हैं सिवाय हमारी सोचने की शक्ति के। इसी से हमने स्वयं को सबसे अधिक ताकतवर और क्रूर बनाया है।

भय से समाज बना। समाज से जीवन को संवारने की प्रक्रिया शुरू हुई। समाज की संरचना ही हमारा मुख्य सरोकार था और आज भी है। अनिवार्य मृत्यु ने ही जीवन पर रोक लगाई-मृत्यु के भय से वह जीवन को सरल और सौन्दर्य बनाने की ओर लौटा। उसका लौटना और न लौटना यही आज के विषय का केन्द्र बिन्दु है।

मैं अपनी सुविधा के लिए इस लौटने को दो भागों में विभाजित कर रहा हूं। पहला वह स्वयं की ओर लौटता है दूसरा प्रकृति की ओर। जब वह स्वयं की ओर लौटता है उसके पास शरीर ही होता है। इसी शरीर को उसे सबसे पहले देह बनाना पड़ता है। शरीर से देह की यात्रा ही उसकी सांस्कृतिक यात्रा है। सांस्कृतिक होने का सरल-सा अर्थ है अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की जिजीविषा या कहें ललक। याद रहे मैं आवश्यकता कह रहा हूं-आरामदेह या विलासिता की बात नहीं कर रहा हूं।

आवश्यकता देह की है, आत्मा की भी। सबसे पहले हम देह की ओर लौटने का उपक्रम करेंगे। देह से ही शब्द उपजे हैं। देह से ही कलाओं का आविर्भाव हुआ है। हमारी इन्द्रियां ही कलाओं का उत्स है, उन्हीं से भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हीं से भाव संचारित होते हैं, वही अभिव्यक्त होने की भूख जगाती है, उसी से भाषा बनी है, उसी से व्याकरण बना है, उसी से सम्प्रेषण के तरीके इजाद हुए हैं, उसी से आनन्द का स्पर्श होता है, दर्शन होते हैं।

आवश्यकता देह की भी है। भूख लगती है, प्यास लगी है, नींद आती है। शरीर में थकान आती है, सैक्स की भूख भी है। उसको सजाने-संवारने का सोच भी सांस्कृतिक सोच है। हमारे पुरखों से यह गलती हुई है। इस जिजीविषा या कहें ललक को हमने गलत मोड़ दिया। हमने उसे आध्यात्म की तरफ मोड़ दिया जबकि जीवन की आवश्यकताएं अलग हैं। सब कुछ अध्यात्म में निहित नहीं है। हमने उसे एक खूबसूरत मोड़ देने का प्रयास किया वही मोड़ अब हमारे गले की फांस बन गया है।

अस्तित्व और सह-अस्तित्व का उद्यम ही संस्कृति का आधार है। ऊपर हमने आत्मा की आवश्यकता की बात भी की है। सृष्टि की लय से जुड़ने की बात-ऋत से साक्षात्कार-ऋत से यानी सत्य से तारतम्य

बिठाने की जरूरत। शायद आप जानते ही होंगे-**ऋत को सत्य की रचनात्मक अनुभूति कहा गया है।** ऋत पर हम आगे भी बात करने के इच्छुक हैं।

एक जरूरी बात- नींद में हमारा शरीर शिथिल हो जाता है, चेतना, मस्तिष्क, सुन्न हो जाता है, हम कहां जाते हैं-कहा जाता है नींद में हम मनुष्यों की आत्मा परमात्मा से मिलने जाती है। तात्पर्य यह है कि ऋत की लय से जुड़ती है। शायद पुन: प्रतिष्ठित होने की रसद लाती है। यही जीवन की अनकही कहानी है।

कथाकार, चिन्तक **निर्मल वर्मा** ने एक साक्षात्कार में हल्के से एक बात कही है **'यह एक ऐतिहासिक संयोग ही कहा जाएगा कि समकालीन भारतीय संस्कृति अपनी अभिव्यक्ति के द्वार साहित्य में न खोज कर अन्यत्र खोजती है।'** मुझे नहीं मालूम उन्होंने इस बात को विस्तार से कहीं लिखा है या नहीं। लेकिन उन्होंने सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को साहित्य तक सीमित करने की बात कही है। हम उस अभिव्यक्ति को सभी विधाओं में, कलाओं में, अपरा विद्याओं में, तकनीक में, कृषि उद्योग में हर कहीं देखना चाह रहे हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति एक सीमित दायरा है। हमारे अपने देश में कितने लोग साहित्य को पढ़ते हैं ?

भारतीय संस्कृति अपनी अभिव्यक्ति अन्यत्र खोजती है-इस अन्यत्र को महर्षि श्री अरविन्द ने बहुत अच्छी तरह से समझा है और विस्तार से समझाने की कोशिश भी की है। 'भारतीय संस्कृति के आधार' नामक पुस्तक में वे करते हैं -

भारतीय संस्कृति आरम्भ से ही एक आध्यात्मिक एवं अन्तर्मुख धार्मिक-दार्शनिक संस्कृति रही है और बराबर ऐसी ही चली आयी है। उसमें और जो कुछ भी है वह सब इस एक प्रधान और मौलिक विशेषता से ही उद्‌भूत हुआ है अथवा वह किसी न किसी प्रकार इस पर आश्रित या इसके अधीन ही रहा है, यहां तक कि बाह्य जीवन को भी आत्मा की आत्यन्तिक दृष्टि के ही अधीन रखा गया है।

यहां फिर हम जीवन की ओर लौटना चाहेंगे। यहां हम शुद्ध रूप से भारत वर्ष को केन्द्र में रखकर ही बात करना चाह रहे हैं। **श्री अरविन्द** ने यह बात पिछली शताब्दी में कही है। तब से अब तक जीवन काफी बदल गया है। हम इस बदले हुए यथार्थ को जानना-समझना चाह रहे हैं इसलिए बड़े प्रश्नों से हमारा सामना हो रहा है।

श्री अरविन्द की इस संश्लिष्ट सांस्कृतिक समझ को हम देशकाल में लाना चाह रहे हैं। स्वाभाविक-सा प्रश्न दिमाग में आता है कि **श्री अरविन्द** ने अपने इस वक्तव्य में किस काल-खंड तक संस्कृति को समेटने की कोशिश की है ? या फिर काल की भारतीय अवधारणा जिसमें काल बंटा हुआ नहीं था उसे ही आधार बनाया है। एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर मैं आप सभी का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं- इस आध्यात्मिक, अन्तर्मुख दार्शनिक-धार्मिक संस्कृति से एक लम्बे काल-खंड में उपजे अन्तर्विरोधों पर हमने गम्भीरता से कभी सोचा ही नहीं या फिर हम चूक गये हैं। हम जिन अन्तर्विरोधों की बात कर रहे हैं उन्हें १९ वीं शताब्दी से हमारे धर्मगुरुओं ने, विचारकों ने, समाज सुधारकों ने उठाया भी है। दरअसल उन्हें अन्तर्विरोध कहना गलत होगा-ये हमारी सामाजिक बुराइयां हैं, कलंक है। इन बुराइयों ने अपनी जड़े जमा ली हैं। हम आज भी इनसे ग्रस्त हैं। आजादी के पहले इनका एक रूप था अब इनके अनेक रूप हो गये हैं। इस वस्तुस्थिति के लिए एक महत्वपूर्ण कारण मैं हमारी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को मानता हूं क्योंकि उसने जीवन को ही अनदेखा किया है।

इस आध्यात्मिक अन्तर्मुख दार्शनिक-धार्मिक संस्कृति ने-

- वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया।
- इसने महिलाओं को पिछड़ा रखने की अनर्गल साजिश रची।
- जाति व्यवस्था को बरकरार रखने का नियमित कारोबार किया।
- इसी प्रवृत्ति के चलते हम एक हजार वर्षों से गुलाम रहे है

(डॉ. राममनोहर लोहिया।)

डॉ. राममनोहर लोहिया ने लिखा

है-'शंकराचार्य ने यह कह कर कि सच के दो रूप होते हैं। एक दुनियाई रूप, अहित रूप, लौकिक रूप और दूसरा पारलौकिक रूप। इन दो हिस्सों में दिमाग को बिल्कुल ठोस बनाकर रख दिया कि यह तुम्हारा सगुण हिस्सा और यह निगुर्ण हिस्सा। यहीं से स्वयं को धोखा देने का सिलसिला शुरू हुआ। धोखा वह दूसरों को इतना नहीं देता, जितना खुद को देता है।'

भक्ति आंदोलन ने जरूर इससे हमें, हमारे समाज को बाहर निकालने का प्रयत्न किया। जिनमें दक्षिण में अक्का महादेवी, अण्डाल, उत्तर में कबीर, पश्चिम में मीरा और मध्य में तो १९-२० वीं शताब्दी तक संत कवियों ने आवाज उठायी थी। लेकिन वे सभी कवि थे और शंकराचार्य के खिलाफ लड़ रहे थे।

इसी संस्कृति ने शंकराचार्य को बल दिया। राजाओं ने, जमींदारों ने, संस्कृत के विद्वानों ने, धर्म गुरुओं ने और क्षत्रियों ने इसे मान्यता दी। इसके लिए अपना राज्य और कुर्बानियां दी। इसी संस्कृति ने अपने ही देश के लोगों को गुलाम बनाया-अध्यात्म के उच्चतम आदर्श के नाम पर।

इस भारत भूमि में पता नहीं कहां-कहां से लोग आये। इस भूमि को देव भूमि कहा गया। लोग यहीं बस गये। किसी को किसी से भय नहीं लगता था। कहा जाता है लोगों ने यहां कृषि को नया आयाम दिया। नदियों के किनारे संस्कृतियों का जन्म हुआ। यहां के आदिवासी-जल, जंगल, जमीन के मालिक एक स्वतंत्रचेता, सरल और मनुष्यों में विश्वास करने वाले लोग थे-अभी भी हैं। एक साथ रहने की उन्होंने प्रीत निभायी थी। यह सिलसिला लम्बे अरसे तक चलता रहा।

कई धर्मों के धर्मावलम्बी आये-शास्त्रार्थ करने थे-बस गये। यहां की प्रकृति उन्हें भा गयी। यहां के लोग, यहां की स्त्रियां, यहां का पानी सब कुछ अच्छा लगता था।

शंकराचार्य ने यह कह कर कि सच के दो रूप होते हैं। एक दुनियाई रूप, अहित रूप, लौकिक रूप और दूसरा पारलौकिक रूप। इन दो हिस्सों में दिमाग को बिल्कुल ठोस बनाकर रख दिया कि यह तुम्हारा सगुण हिस्सा और यह निगुर्ण हिस्सा। यहीं से स्वयं को धोखा देने का सिलसिला शुरू हुआ। धोखा वह दूसरों को इतना नहीं देता, जितना खुद को देता है।

इसी आध्यात्मिक सोच, आचरण और ऋत के साथ रहने की प्रवृत्ति ने ही उनका मन जीत लिया था। धर्म भले ही अलग मानते रहे हों। उन्हें साथ में रहना गवारा था। उसका शायद एक बड़ा कारण यह था कि हमारे यहां धर्म न किसी पुस्तक पर आधारित था न उसके कोई नियम थे न उसकी कोई बंदिश थी। हर व्यक्ति का अपना धर्म था। पुरुष होने का अपना धर्म था। स्त्री होने का अपना धर्म था। राजा होने का अपना धर्म था। व्यापारी होने का अपना धर्म। इसी धर्म से आचरण बंधा हुआ था। इसी धर्म से संतति थी-इसी से खुशहाली थी।

फिर आस-पास के लुटेरे आये। उन्होंने लूटना चाहा-लूट कर ले गये। फिर आये-यहीं बस गये। राजा बन गये। मुगल सल्तनत कायम हुई। सम्राट बने। धीरे-धीरे यहां की आबोहवा में ज़ज्ब हो गये। इस्लाम को प्रतिष्ठित किया गया। **दीन-ए-इलाही** की बात चली।

मुगलों की अय्याशी ने उन्हें डुबो दिया। यहां धर्म से अलग हुए राजाओं को उनके अध्यात्म ने डुबो दिया। फिर अंग्रेज आये। उन्होंने हमें गुलाम बनाया। गुलामों में मुगल भी शामिल थे और अब तक जिन्हें एक प्रचलित नाम मिल गया था वे हिन्दू भी थे-दोनों राजाओं को अंग्रेजों ने गुलाम बना दिया था। अब तक मुगलों को साथ रहने का-सहअस्तित्व का कोई खतरा नजर नहीं आया था। आजादी की लड़ाई ने जैसे-जैसे जोर पकड़ा-गांधी जी जैसे-जैसे मजबूत होते गये-स्वतंत्रता की लड़ाई में जैसे-जैसे जनता शामिल होती गयी, अंग्रेजों को समझ में आने लगा। अब इन्हें आजाद करना पड़ेगा। ठीक इसी बिन्दु पर अल्लामा इक़बाल जैसा बड़ा शायर जिसने **सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा** जैसा गीत लिखा-मुसलमानों के **हक़** की बात करने लगा। अलग पाकिस्तान की मांग करने लगा। उन्हें शायद सहअस्तित्व का खतरा नज़र आ रहा था। हम इसे भी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के प्रश्न से जोड़ना चाह रहे हैं। भले ही यह राजनैतिक मसला हो-इसकी जड़ें सांस्कृतिक हैं।

एक और शब्द चित्र के बाद हम अपने विषय पर लौटेंगे। यह प्रखर राजनेता चिन्तक डॉ. राममनोहर लोहिया के शब्द है जो उन्होंने १९५३ में शायद किसी व्याख्यान में बोला था-'दुनिया में सबसे अधिक उदास है' हिन्दुस्तानी लोग। वे उदास है क्योंकि वे ही सबसे ज्यादा गरीब और बीमार भी है। परन्तु उतना ही बड़ा एक और कारण यह भी है कि उनकी प्रकृति में एक विभिन्न झुकाव आ गया है। खासकर के उनके इधर के इतिहासकाल में-बात तो निर्लिप्तता के दर्शन की करते हैं जो तर्क में और विशेषत: अन्तर्दृष्टि में निर्मल

शेष पृष्ठ - १४ पर...

आशा बलवती है राजन्

❑
नन्द चतुर्वेदी

आत्मा नदी संयम पुण्य तीर्था, सत्योदका शील तटा दयोर्मि
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्रः, न वारिणा शुध्यति चांतरात्मा
– महाभारत

आज के समाज का सच नन्दबाबू को बहुत सताता है। वे प्रतिदिन चिंतित रहते हैं उन तमाम लोगों को लेकर जिन्हें दो जून रोटी भी नसीब नहीं है। समता की सारी बातें सिर्फ एक सुनहला सपना हो कर रह गयी है। देश में जिन लोगों ने यह सुनहला सपना देखा था और जिन्होंने यह सपना देश को दिखाया था उनमें नन्दबाबू भी एक थे। आज वे पूरी खिन्नता के साथ हमारी सांस्कृतिक-विपन्नता का कारण तलाशते हैं। महाभारत इसके लिए एक बड़ा सहारा है। ❑ सं.

आत्मा की नदी सूख गयी है
संयम के पुण्य तीर्थ गिर गये हैं
सत्य का जल रसातल में चला गया है
धंस गये हैं शील के तट पृथ्वी में
दया की लहरें कहां चली गयी हैं
कोई नहीं जानता
अब पाण्डु पुत्र
गली के हैण्ड पंप पर
स्नान करने पड़ेंगे
यही जल है, जैसा भी है आत्मा की शुद्धि के लिए

यह ऐसा समय है मूर्छित, बिका हुआ

वह पुस्तक प्रतिबंधित हो गयी है
जिसमें से तुमने वह पाठ पढ़ा था
सत्यम वद् धर्मम् चर
धर्म के अखाड़े बाज़ पहलवान हाथ में गंडासे लिए खड़े हैं
अटल
सारे अर्थ कम्पनियों ने खरीद लिये हैं चुपचाप

कविता

सत्य से आगे का पाठ अभी तुम ने नहीं पढ़ा था
राजकुल के सब से ज्येष्ठ कुमार हो कर भी
वहीं ठिठके रहे
दिनों तक कुल-गुरु द्रोणाचार्य को
लज्जा आती रही

(सत्य का पाठ इस हठ से पढ़ने वाले
हमेशा से अनादर के ढलान पर खड़े हैं।
हम सब को वे घिसटते लगते हैं
परम मूर्खता के दलदल में)

कृष्ण ने तुम से कहा था
गहरे संशय, कुछ अविश्वास के साथ
कुछ आत्म-ग्लानि के साथ भी
कहो, युधिष्ठिर, कहो
द्रोणाचार्य की पाठशाला में जो नहीं कह सके थे
अभी कहो आगे के पाठ का वह छल
विनाश का नशा, मेरीजुइना, जेनोसाइड
सब के साथ, मारा गया अश्वत्थामा
तुम ने कहा 'नरो वा कुंजरो वा
आधा पुण्य, आधा युधिष्ठिर वहीं मारा गया
भाषा, छल, क्लांत, रक्त-स्नात

कुंजरो वा कहा भी था या नहीं तुमने
या लेखक, कवि वेदव्यास ने ही सुना

उस दिन भी उन्होंने ही सुना हो कद
जिस दिन अस्फुट से स्वर में तुम ने
सत्यम् वद
लेखक कवि ही सुनता है त्रिकाल क
रुद्ध, उद्विग्न, विकल-स्वर
सत्यम् वद

उसी ने सुना तुम्हारे पक्ष का
वह मर्माहत, अस्फुट-सा, संशय-ग्र

हताश कृष्ण ने फिर कहा तुम से
कहो, युधिष्ठर, कहो अश्वत्थामा म
तुमने तब उर्जस्वित स्वर में कहा
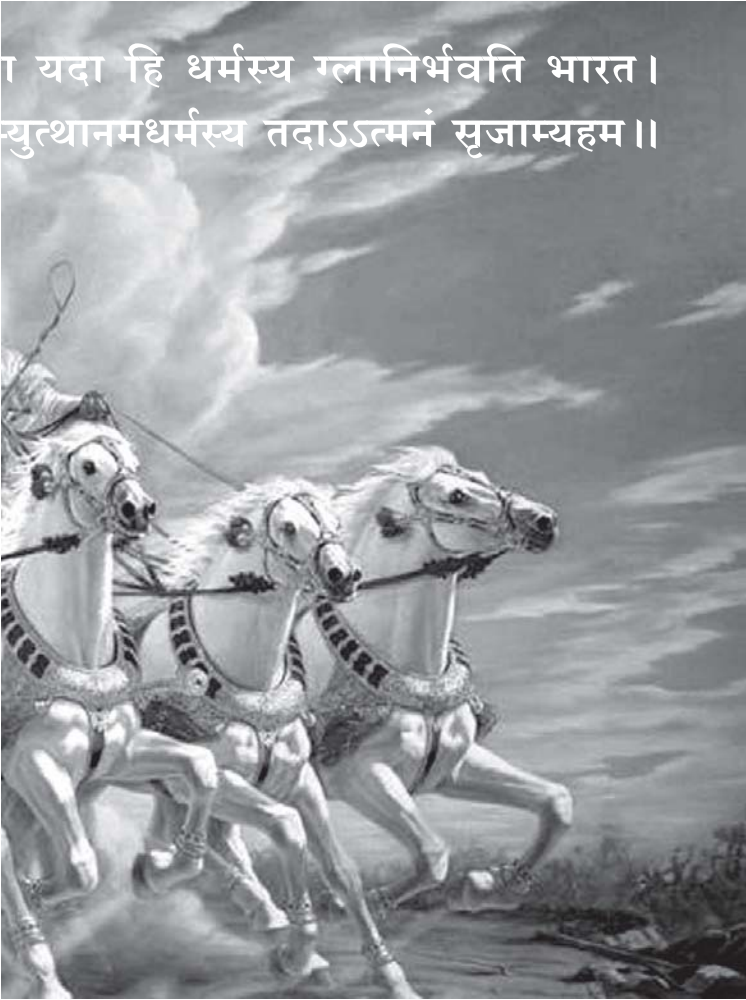
ी कदाचित्
ुम ने कहा था

ल का

य-ग्रस्त स्वर

से
मा मारा गया
हा

'अश्वत्थामा मारा गया'
कुछ कांपते, डूबते, अस्फुट स्वर में 'कुंजरो वा'
जिसे द्रोणाचार्य ने नहीं सुना

(महाभारत में जाने-अनजाने
भोले भाव या चतुराई से
इच्छा या अनिच्छा से बोला गया
वह कपट-वाक्य दर्ज है)

फिर क्या बचा था
आधे-अधूरे ही तुम बचे थे

उस आधे सत्य के व्याकुल पछतावे के साथ
तुम उन हिम-शिखरों में
विलीन होने गलने चले गये

'महाभारत' के उस प्राणहन्ता कथानक का
क्या अंत हो सकता था
कृष्ण स्वकुल के
किसी अपरिचित व्याध के बाण से मारे गये
जो चराचर के सखा थे।

सत्य अब वस्तुओं, विज्ञापनों के बाज़ार में बिकता है।
आत्मा की अथाह जल वाली नदी
दुर्दिनों की रेत में विलुप्त हो गयी है।

आशा बलवती है राजन्।❑

पृष्ठ - १० से आगे ...

है पर व्यवहार में वे भद्दे ढंग से लिप्त रहते है। उन्हें प्राणों का इतना मोह है कि किसी बड़े प्रयत्न करने की जोखिम उठाने की बजाय वे दरिद्रता के निम्नस्तर पर जीना ही पसन्द करते हैं। आत्मा के इस पतन के लिए मुझे यकीन है जाति और औरत के दोनों कटघरे मुख्यत: जिम्मेदार हैं।

भारतीय संस्कृति की इस छवि को कोई अभिव्यक्ति आज तक नहीं मिली।

हम डॉ. विलियम आर्चर की आलोचना का समर्थन नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने समय में, अपनी ही संस्कृति को, अपनी आवश्यकता के बरक्स रखना चाह रहे हैं यानी आत्म परीक्षण करना चाह रहे हैं।

महर्षि अरविन्द ने अपनी पुस्तक **भारतीय संस्कृति** के आधार में श्री आर्चर की आलोचना को इन शब्दो में लिखा है।

उसने भारत के सम्पूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर आक्रमण किया था। यहां तक की महान से महान प्राप्तियों, दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद, रामायाण, महाभारत आदि सबको एक साथ एक ही कोटि में रखकर सबके बारे में कह डाला कि ये अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणास्पद स्तूप है।

जिन उपलब्धियों को मिस्टर आर्चर ने निशाना बनाया है हम उन सारी उपलब्धियों को अपनी विरासत मानते हैं, उससे वाबस्ता है। उन महान रचनाओं के विशेषज्ञों की व्याख्याओं का प्रतिसाद करते हैं। जितना हमने जाना है-पढ़ा है-समझा है उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। हम जिस प्रश्न की ओर इशारा करना चाह रहे हैं वह यह है कि जनमानस को उसे पढ़ने, जानने, समझने की संधि ही नहीं मिली। ज्यादातर ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये हैं और संस्कृत हमें पढ़ाई नहीं जाती है-हम

ऋत को सत्य की रचनात्मक अनुभूति कहा गया है। संस्कृत भाषा के इस शब्द को हम में से बहुत से लोग नहीं जानते। यूरोपीय भाषा समूह में इसके बराबर कोई शब्द हीं नहीं है। तब वे क्या समझ पायेंगे इसकी हकीकत को। वैसे हमारे यहां भी इसे अनुभूत करने की ललक दिखाई नहीं देती। जड़ और चेतन से बनी इस सृष्टि का संतुलन ही ऋत कहलाता है। जब भी यह संतुलन बिगड़ता है-तभी भूकम्प आता है, सुनामी आता है, अकाल पड़ता है।

उसके लायक नहीं है। हमें उसे पढ़ने का अधिकार नहीं दिया गया हमें उन ग्रंथों की कथा सुनायी जाती है। हमें उसका भावार्थ, उसकी व्याख्या, उसके अर्थ-अनर्थ बताये जाते हैं। हम जानना चाहते हैं कि कोई भी ग्रंथ अगर लिखा गया है तो वह पढ़ने के लिए ही तो है और पढ़ने से हमें वंचित किया गया। अब पढ़ना हमारे बस में नहीं रह गया है। हम कुछ पढ़े-लिखे विद्वानों पर ही आश्रित हो गये और अब वे अपने स्वार्थ के लिए उसका उपयोग कर रहे हैं। हमें गुमराह कर रहे हैं। सच बात तो यह भी है कि हम अपने जीवन से ही इतने त्रस्त हैं कि उसका आस्वाद लेना हमारे मन-मस्तिष्क की जरूरत ही नहीं रह गयी हैं।

एक बार फिर हम जीवन की ओर लौटना चाह रहे हैं। अब कि बार सामाजिक संरचना, पारिवारिक संकट, व्यक्तिगत आचरण, नौकरी, व्यवसाय, शिक्षा, राजपाट, धर्म और स्त्री की माली हालत पर बात करना चाहेंगे।

एक जंगली, बर्बर मनुष्य को एक सभ्य आदमी बनाना ही शायद संस्कृति का सरोकार है। शायद यही हमारी संकल्पना की पराकाष्ठा है। शायद यही हमारी आवश्यकताओं का परम आदर्श है।

एक मनुष्य की आवश्यकता उसके जन्म से शुरू होती है। बच्चे की मां स्वस्थ होनी चाहिए। उसके लिए दूध, अन्न की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके स्वास्थ्य, उसकी शिक्षा, रोजगार, परिवार, सामाजिक जीवन उसके बाद उसका सौन्दर्य बोध और फिर एक भली-सी मृत्यु भी उसकी आवश्यकता का एक हिस्सा है -सिर्फ अध्यात्म ही जीने की शर्त नहीं है।

मेरे लिए अध्यात्म कोई निर्गुण या अदृश्य फलसफा नहीं है बल्कि सगुण, ठोस और जीवन्त अनुभव है। जब मैं वृक्ष को, पौधों को छूता हूं तो उसकी पत्तियां, फूल-फल मुस्कुराते हैं। उसे सूरज भी देखता है, हवा भी देखती है, पृथ्वी भी देखती है। उन सबके साथ मै उनका हो जाता हूं। मेरी जिम्मेदारियां बढ़ जाती है-वह मेरे सहोदर हो जाते हैं। उनके बीच रहना एक सुखद आनन्द की अनुभूति कराता है। मैं उन्हें उनके नाम से जानना चाहता हूं-उन्हें नाम देना चाहता हूं। उनकी प्रकृति को समझना चाहता हूं। उनके अस्तित्व को जानना चाहता हूं। इस पृथ्वी पर उनके होने को रेखांकित करना चाहता हूं। उनके साथ अपने सम्बन्ध को एक आधार देना चाहता हूं। उनके साथ अपने रिश्ते को कायम रखना चाहता हूं। सब कुछ धराशायी हो जाता है जब कोई वृक्ष को, जंगल को काटता है।

जब मैं किसी राह चलते आदमी से बात करता हूं तो मुझे उसके सपने दिखाई देते हैं। उसके शब्दों में एक छोटा-सा घर दिखाई देता है। उसकी देह में एक लय और ताल दिखाई देती है। दो कदम उसके साथ चलना मुझे ऊर्जा प्रदान करता है। उसकी आंखें स्वयं को ढूंढती है। जब मैं उसे दुबारा देखता हूं तो मुझे जीवन सार्थक लगता है।

जब कोई घटना होती है मुझे लगता है यह संयोग नहीं है यह तो होना ही था। इस घटना के पीछे जरूर कुछ है जो मुझे अपनी ओर खींच रहा है। मेरा जरूर कोई रिश्ता है उससे। मुझे अपने होने का अहसास होता है और मैं अपने अन्दर ही तैरने लग जाता हूं।

नींद को, मेरे सुबह जगने को, सूर्योदय को, रात्रि को, बारिश को कड़कड़ाती धूप को लेकर जब भी मैं सोचता हूं, ऋत शब्द याद आता है। ऋत को सत्य की रचनात्मक अनुभूति कहा गया है। संस्कृत भाषा के इस शब्द को हम में से बहुत से लोग नहीं जानते। यूरोपीय भाषा समूह में इसके बराबर कोई शब्द हीं नहीं है। तब वे क्या समझ पायेंगे इसकी हकीकत को। वैसे हमारे यहां भी इसे अनुभूत करने की ललक दिखाई नहीं देती। जड़ और चेतन से बनी इस सृष्टि का संतुलन ही ऋत कहलाता है। जब भी यह संतुलन बिगड़ता है-तभी भूकम्प आता है, सुनामी आता है, अकाल पड़ता है। कभी प्राणवायु की कमी होती है, कभी ओजोन की मात्रा कम होती है। इसी संतुलन से वर्षा होती है, इसी से जीवन चलता है। इसी संतुलन से पेड़-पौधे, वृक्ष, नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, सारे ग्रह नियमित कार्यरत रहते हैं। **ऋत हमारे स्वभाव का रखवाला भी है।**

इसे ही हम नष्ट करना चाह रहे हैं-दम्भ से, घमंड से, प्रकृति पर विजय पाने की लालसा से-तात्कालिक जरूरतों के लिए, जीविका के लिए। क्या यह आध्यात्मिक सरोकार हो सकता है ?

मेरे लिए सह-अस्तित्व भी अध्यात्म है। कोई भी भूखा न रहे यह चिन्ता भी आध्यात्मिक चिन्ता है। उसके लिए रोजगार की चिन्ता भी उसी का एक हिस्सा है। मेरे लिए अध्यात्म मेरा यथार्थ है और इसकी अभिव्यक्ति भी ठोस, सगुण, पारदर्शी और जीवन के लिए चाहिए। यह जीवन के लिए अनिवार्य भी है और इसका कोई पर्याय नहीं है।

अब तक यह मेरी समझ में नहीं आया कि आध्यात्मिक, अर्न्तमुख दार्शनिक-धार्मिक संस्कृति जिसने वर्षो तक दुनिया में राज किया, जिस देश को आध्यात्मिक गुरू की संज्ञा दी गयी वह जनसंख्या वृद्धि को रोकने में असफल क्यों रहा। असहज पारिवारिक सम्बन्ध ही शायद उसकी जड़ हो सकती है। अज्ञानता भी एक कारण हो सकता है।

संगीत को तो शिक्षा ही खा गयी। कोई अपने बच्चों को संगीत सिखाना नहीं चाहता। उसमें पैसा नहीं है-शोहरत नहीं है-रूतबा नहीं है। उसकी दुय्यम दर्जे की भूमिका है। अच्छे सिखाने वाले नहीं मिलते। वहां भी शास्त्रीय और लोक की फांक पड़ी हुई है। बड़े गायक समय के साथ जुड़ना नहीं चाहते। वे समय को हमेशा मात देते रहना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह कभी-कभी ही सम्भव है। शास्त्रीय संगीत में रागों की बंदिश का नजारा है। वह बहुत निराशाजनक भी है।

ईश्वर संतान देता है-ईश्वर ही उसे पालेगा, खाना देगा, उसका जीवन संवारेगा।

ईश्वर नौकरी नहीं देता। सुकून से जीने नहीं देता। इसी ईश्वर के बच्चे बे-मन से साधु बन जाते हैं। बे-मन से चोरी करते हैं। दूसरों का जीवन दूभर कर रहे हैं। बच्चे भीख मांग रहे हैं। स्वेच्छा से गुनाह कर रहे हैं। हत्या कर रहे हैं-तस्करी कर रहे हैं-अवैध धंधे कर रहे हैं-जी रहे हैं। हम इनके जीवन को लेकर चिन्तित है। यह संस्कृति का अमानुषीय पक्ष है जिस पर किसी का ध्यान नहीं है। यह सब अपने ही समाज का सत्य है।

संयुक्त राष्ट्र संघ कहता है जिस देश की जनसंख्या ज्यादा है वह देश ताकतवार देश है। उसमें मजदूरों की संख्या ज्यादा है। लेकिन इन लोगों को काम तो चाहिए। बिना काम के अनाम-सा जीवन जीने को मजबूर लोगों की किन्हें सुध है।

क्या कलाएं संस्कृति की अभिभावक हो सकती है ? मुझे तो कलाकारों का जीवन से ही कोई रिश्ता नजर नहीं आता। यह मैं उनकी बात कर रहा हूं जो प्लास्टिक आर्ट से जुड़े है। लोककला, लोक नाट्य और लोक नृत्य आदि हमने नष्ट ही कर दिये हैं। शास्त्रीय और लोक का अन्तर बेमानी है-धोखा है। हम उसे ही धारदार किये जा रहे हैं। एक लम्बे अरसे से चित्रकला का अपना कोई स्वर नहीं उभरा। हम विदेशियों की नकल कर रहे हैं। स्वयं को ही नकार रहे हैं। और जो स्वयं पर केन्द्रित हो रहे हैं वे अलग मापदंड अपना रहे हैं।

संगीत को तो शिक्षा ही खा गयी। कोई अपने बच्चों को संगीत सिखाना नहीं चाहता। उसमें पैसा नहीं है-शोहरत नहीं है-रूतबा नहीं है। उसकी दुय्यम दर्जे की भूमिका है। अच्छे सिखाने वाले नहीं मिलते। वहां

भी शास्त्रीय और लोक की फांक पड़ी हुई है। बड़े गायक समय के साथ जुड़ना नहीं चाहते। वे समय को हमेशा मात देते रहना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह कभी-कभी ही सम्भव है। शास्त्रीय संगीत में रागों की बंदिश का नजारा है। वह बहुत निराशाजनक भी है। जमींदारों, नवाबों के संरक्षण से ही संगीत बचा रहा। अब वैसा कुछ नहीं है। लोक संगीत को हमने नष्ट किया है। अब जंगल नष्ट हो गये हैं-मौसम से हमारे कोई रिश्ता नहीं रहा। हम प्रेम नहीं करते-प्रेम का ख्याल ही हमें भाता है। अन्य कलाओं को लेकर हम फिलहाल बात नहीं करना चाहते।

एक परिवार, एक समुदाय, एक जाति, एक भाषा के लोगों के लिए यह शायद सुविधाजनक हो सकता है कि उनमें सुधार लाएं। लेकिन जब हम समाज, देश और राष्ट्र में तब्दील हो गये तब संस्कृति के सरोकार, उसकी भूमिका कुछ अलग हो जाती है और हमारा अपना देश विभिन्न जातियों, समुदायों, भाषा क्षेत्रों और अब तो कई वर्गों में बंट गया-इस समस्या को कुछ अलग नज़रिये से ही देखना-समझना होगा।

एक राजभाषा को हम स्वीकार नहीं कर पाये। विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में हमारी अपनी भाषाओं ने कोई रास्ता नहीं खोजा। अंग्रेजी पर ही आश्रित हो गये हैं। जहां तक मुझे याद है पहले विज्ञान के प्रयोग के लिए जो भाषा इस्तेमाल की जाती थी वह संस्कृत थी-उसे हमने छोड़ दिया। उस भाषा में विज्ञान के जो भी प्रयोग हुए थे, उसे हमने दरकिनार कर दिया। अब गणित, विज्ञान, सभी की पढ़ाई अंग्रेजी में ही होती है। भारतीय भाषाओं में शिक्षित विद्यार्थी इस दिशा में जाने से वंचित रह जाते हैं। २४ भारतीय भाषाओं के बीच कोई तारतम्य नहीं है। अनुवाद की कोई राजकीय या निजी कोई एजेंसियां नहीं है। हम पड़ोसी भाषा को सीखना नहीं चाहते। यह राजनीति के लिए भी जरूरी है और दबदबा बनाकर रखने के लिए भी जरूरी है।

हम सांस्कृतिक शून्यता की स्थिति में जी रहे हैं। एक लम्बे अरसे से हम गुलाम रहे हैं। इसी गुलामी ने हमें झंझोड़कर रख दिया है। हममें सिर उठा कर चलने की हिम्मत नहीं थी। एक देश एक राष्ट्र की संकल्पना ही हमारे लिए एक नया अनुभव था-है भी। एक उधार लिया हुआ संविधान क्या हमें सुस्कृत बनायेगा ?

अब भी कुछ प्रश्न बचे हैं -

- ❑ अंग्रेजों द्वारा १८ वीं शताब्दी में बनाया गया पुलिस कानून हमने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उसमें कोई परिवर्तन करने की हमें जरूरत ही नहीं पड़ी। यानी गुलामों के लिए बना कानून हमारे लिए अब भी कारगर है।
- ❑ देश को हम एक राजभाषा नहीं दे सके। अंग्रेजी हर किसी क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाये हुए है। यह जोखिम लेने की हमने हिम्मत नहीं की।
- ❑ स्त्रियों को लेकर स्त्रियों का सोच वैसा ही है जैसा सदियों पहले हुआ करता था। पुरुष मानसिकता भी स्त्रियों के प्रति जरा भी नहीं बदली।
- ❑ आरक्षण की राजनीति खत्म होनी चाहिए। मुसलमानों को भी संरक्षण-आरक्षण मिलना चाहिए।
- ❑ परिवारों के टूटने के कारणों की जांच-पड़ताल होनी चाहिए। बाल-विवाह से लेकर दहेज की कुरीतियों से निजात पाने की इच्छा आकांक्षा पनपनी चाहिए।
- ❑ आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन की मिल्कियत से बेदखल करने की साजिश के खिलाफ आंदोलन होना चाहिए।
- ❑ बाल मजदूरों को इस दल-दल से निकालना चाहिए।
- ❑ जो काम करने योग्य है उनके लिए रोजगार की व्यवस्था की जिम्मेदारी को प्रोत्साहन देना होगा।
- ❑ शिक्षा और उत्तम स्वास्थ्य के लिए अनुसंधान करना होगा-उसे लागू करना होगा।
- ❑ नगर निगम, जिला प्रशासन, राज्य सरकार और केन्द्र सरकार सभी को अपने काम की जिम्मेदारी का अहसास दिलाना होगा।
- ❑ हमारी अपनी आजादी अपने समय में अर्जित की हुई धरोहर है, इसे हर हाल में बचाकर रखने का संकल्प लेना होगा।
- ❑ आर्थिक उन्नति के साथ यदि समाज में सांस्कृतिक स्तर पर काम नहीं होगा तो हम हमेशा गुलाम जैसी मन: स्थिति में ही बने रहेंगे।

ये सभी प्रश्न बीमार और कमजोर मानस के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों से, इन जैसे और प्रश्नों से निजात पाने के उपक्रम को भी हम सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की संज्ञा दे रहे हैं।

हमारी संस्कृति इन्हीं प्रश्नों के निराकरण के बाद ही अपना कोई रूप गढ़ेगी। उसकी अपनी कोई छवि होगी-तब ही उसकी अपनी कोई अस्मिता होगी।

जिस आध्यात्मिक, अन्तर्मुखी, दार्शनिक-धार्मिक संस्कृति में हमने शरण ली वह हमारी अकर्मण्यता को ही अभिव्यक्ति करती है-शायद इसलिए हम बरसों गुलाम रहे हैं। इसलिए हम टूटे हुए हैं, बिखरे हुए हैं, असम्पृक्त रहे हैं।

जब यहां का जीवन ही दल-दल में कीचड़ में अटा पड़ा है तो यहां की सांस्कृतिक छवि कैसी होगी।❑

तुम क्रोध करोगे
तो काबिल इंसान नहीं बनोगे

बेन कार्सन की कहानी

❑

अपर्णा मक्कड़
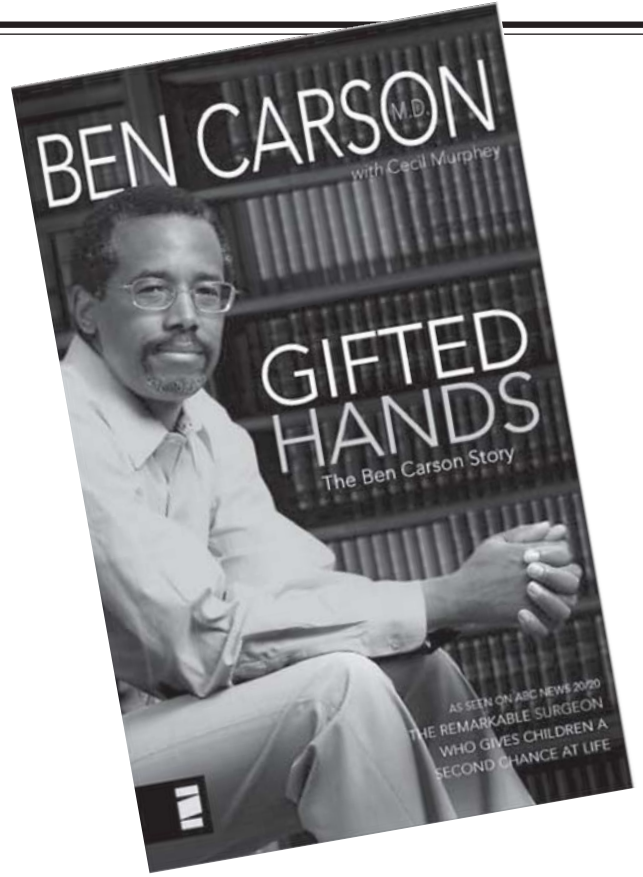
दिसम्बर, २०११ अंक से आगे...

'ज़रा बेन के कपड़े तो देखो। एक सदी पहले के घिसे-पिटे हैं न! और क्या ? कपड़ों की दुर्गंध ही बता रही है।' विषैले शब्द बाण हृदय को छलनी कर देते। मां से कुछ न कह पाता क्योंकि वे अत्यंत स्वाभिमानी महिला थीं। वे इस किफायत से घर चलातीं कि सरकारी मदद का कत्तई सहारा न लेना पड़े। स्वयं साफ-सुथरे व सादे कपड़े पहनतीं और कभी शिकायत नहीं करतीं।

मैं मन को दिलासा देता कि खुद को इतना काबिल सिद्ध करूंगा कि सब देखते रह जायेंगे। पर फिर भी हृदय में अकेलापन व्याप जाता। कुछ दिनों बाद मुझे एक तरकीब सूझी। अब जब-जब मेरी खिल्ली उड़ाई जाती तो मैं तपाक से पलटवार करता। छात्र मेरे पैने जवाबों का आनंद भी लेते और मन-ही-मन लोहा भी मानते। मैंने आत्म रक्षा का अस्त्र जुटा लिया था और आक्रांता विद्यार्थी मुझे परेशान करने से डरने लगे थे।

अच्छे कपड़े न पहन पाने की टीस फिर भी मन में बनी रही। मां से नये कपड़ों का अनुनय करता और वे धैर्य से समझातीं 'बेटे, वस्त्रों से कोई मनुष्य बेहतर नहीं बनता। केवल मूर्ख ही दूसरों के पहनावे पर हंसते हैं।' मेरा किशोर मन मां का जवाब अस्वीकार कर देता। मैं स्कूल से घर आने की बजाय बॉस्केट-बॉल खेलने चला जाता। रात को दस और कभी-कभी ग्यारह बजे तक घर आता। मां नाराज होती तो मैं उन्हें आश्वस्त करता कि मैं पढ़ाई में कोताही कहां बरत रहा हूं। औरों जैसा बनने की ललक मुझमें तीव्र और तीव्र होती जा रही थी।

हताश होकर मां ने मुझे नये जमाने के कपड़े दिलवा ही दिये। मन कुलांचे भरता था कि फैशनेबल कपड़े मुझे कितनी खुशी देंगे। अब यार-दोस्तों के साथ समय गुजरने लगा। मेरे ग्रेड में गिरावट आती रही और मैं मौज-मस्ती, पार्टी के माहौल में खोया रहा। 'ए' ग्रेड से 'सी' ग्रेड की फिसलन भरी राह पर लुढ़कता आया।

उस चमचमाती दुनिया का हिस्सा हो जाने पर भी भीतर उदासी और वीरानी थी। मैं जीवन-मूल्यों से भटक रहा था।

१४ वर्ष की अवस्था में मुझे अपना हिंसक चेहरा दीखा। अगर कोई मुझे आहत करता तो मैं उग्र हो जाता। एक सहपाठी के सिर पर मैंने ताला दे मारा। खून की धारा बह निकली। क्रोध में प्रहार करते हुए मुझे अहसास ही नहीं हुआ कि मेरे हाथ में ताला है। अनजाने में हुई इस भूल के लिये मैंने स्कूल में सबसे क्षमा मांगी। बात आयी-गयी हो गयी।

कुछ दिनों बाद मां ने मेरी छोटी सी इच्छा पूरी करने में विवशता जताई तो फिर वही आक्रामकता उभर आयी। मेरे भैया ने पीछे से लपक कर मेरे दोनों हाथ मजबूती से

न पकड़ लिये होते तो न जाने क्या अनहोनी घट गयी होती। एक मित्र से थोड़ी-सी बहस क्या बढ़ी कि मैंने सड़क किनारे का पत्थर उठाया और उसके चेहरे पर फेंका। उसका चश्मा टूटा और नाक पर भी चोट आयी।

मैं नवीं में था । मेरा मित्र बॉब और मैं ट्रांजिस्टर पर कोई मनोरंजक संगीत सुन रहे थे। उसने स्टेशन क्या बदला कि भूचाल आ गया। मैंने अपनी पिछली जेब में रखे चाकू का फलक खोला और पूरी शक्ति से उसके पेट में घोंप दिया। चाकू बॉब की कमर पर बंधी बैल्ट से टकराया। बक्कल काफी बड़ा और भारी था। चाकू टूटा और वहीं गिर पड़ा।

मैं सकते में था। आज या तो मुझसे मेरे मित्र की हत्या हो जाती अथवा वह खून से लथ-पथ कराह रहा होता। जमीन पर गिर चुके बॉब ने मुझसे कुछ नहीं कहा, केवल अचरज से देखता रहा। मेरी शर्मिंदगी की सीमा न थी। मैं अधिक कुछ नहीं कह पाया और अपने घर की ओर दौड़ पड़ा। अच्छा था कि घर पर कोई नहीं था। मैं भाग कर बाथरूम में घुसा और दरवाजा अंदर से बंद कर लिया।

मैं खुद को माफ नहीं कर पा रहा था। मेरी आंखों में भय कौंध रहा था-वार के लिये उठा मेरा हाथ, धारदार चाकू, बैल्ट, बक्कल से टकराकर मुड़ता ब्लेड, नीचे गिरा चाकू का हत्था, स्तब्ध बॉब... । अच्छे बच्चे क्या ऐसा करते हैं ? आठ वर्ष की अवस्था से मैं डॉक्टर बनना चाहता था। ऐसे गुस्सैल स्वभाव से क्या मेरा सपना पूरा होगा ?

मैं आत्म-घृणा से दहक रहा था। मैं मां के लिये व्याकुल था कि उन्हें मेरे दुर्गुणों का पता चलेगा तो उनका हृदय टुकड़ा-टुकड़ा हो जायेगा। दो घंटे गुजर गये। अंधियारा लील जाता था। तभी अंतर्मन से एक दृढ़ आवाज आयी-**प्रार्थना करो** ! मां और गुरुजनों ने मुझे प्रार्थना की राह दिखाई
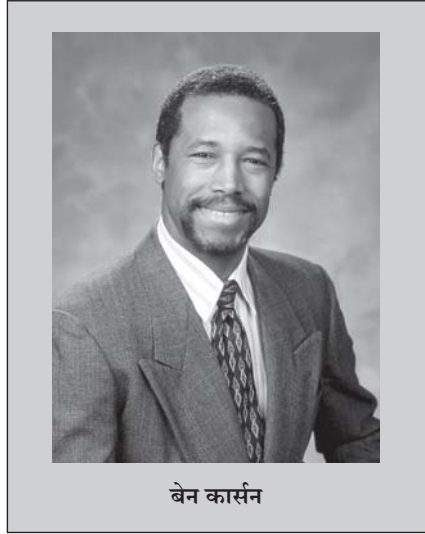
बेन कार्सन

थी। पिछले कई महीनों से मैं खुद को सुधारने की कोशिश कर रहा था पर नाकाम था।

'हे प्रभु।' मैंने कातर स्वर में पुकारा, **आप मुझे इस भीषण क्रोध से मुक्त करो। आपकी मदद ही मुझे इस अवगुण से उबार सकती है। अन्यथा मुझसे न जाने कितने अपराध अभी और होंगे।**' मेरी रुचि मनोविज्ञान में थी। मैं जानता था कि गुस्सा मुनष्य स्वभाव का ऐसा दुर्गण है जिसे बदल पाना नामुमकिन नहीं तो मुश्किल जरुर है।

मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहती रही, 'हे परम् पिता, विज्ञान कुछ भी कहे, पर आप मुझे सुधार सकते हो। आपका वादा है न कि तुम मेरी शरण में आओ। तुम्हारा विश्वास अवश्य फलेगा। मुझे विश्वास है कि आप मुझे धुला-उजला बना सकते हैं।' मैं अनवरत ईश्वर को पुकार रहा था। कुछ क्षणों के लिये बाहर निकला और बाइबल बाथरूम में ले आया। मनोयोग से पढ़ने लगा। उसमें लिखा था कि कैसे क्रोध मनुष्यों की हानि करता है। इस के आवेग को रोक पाने वाले ईंसान ही सच्चे मायनों में ताकतवर है।

आंसुओं से धुली आंखों से मैं उन शब्दों को अपने भीतर उकेरता रहा। वे पंक्तियां जैसे मेरे लिए ही लिखी गयी थीं। एक नन्हा दीया हौसले की उजास बिखेर रहा था। शांत परम सत्ता ने मुझे हौले-हौले अपनी गोद में ले लिया। मेरे आंसू थम गये। न हाथों में अब कंपन था और न मन पर क्षोभ का कसाव और भारीपन। नयी भावभूमि पर खुद को पा रहा था।

मैं खड़ा हुआ। बाइबल को बाथरूम में एक स्वच्छ जगह पर रखा। हाथ-मुंह धो कर कपड़े ठीक किये। एक परिवर्तित इंसान की अनुभूति चेतना के गहनतम स्तरों तक व्याप्त थी। 'अब गुस्सा कभी मुझ पर हावी न हो सकेगा, ' मैंने स्वयं से कहा, कभी भी नहीं। मैंने निश्चय किया कि मैं बाइबल प्रतिदिन पढ़ूंगा। अब यह मेरा नियम है।

ईश्वर कृपा से मैं अत्यधिक तनाव अथवा उपहास के क्षणों में सहज रहता हूं। कटु, अप्रिय यादों को भुलाकर आगे बढ़ जाने में मुझे मुश्किल नहीं होती। बाथरूम में आत्मावलोकन के पलों में मुझे अहसास हुआ कि अगर कोई क्रोध दिला सकता है तो वह मुझ पर शासन कर सकता है। अपने जीवन पर इतना हक मैं किसी को क्यों कर दूं ?

गुजरे सालों की ओर देखता हूं तो मुस्कुरा देता हूं। जब-जब लोगों ने जान-बूझ कर मुझे गुस्सा दिलाने की कोशिश की तो मैं मन-ही-मन हंसता था कि कैसे मूर्ख हैं। मुझे उत्तेजित करना चाहते हैं। उनका मुझ पर नियंत्रण हो, तब न।

१४ वर्ष की अवस्था का वह दिन जब मैं मर्मांतक पश्चाताप की अग्नि में जला, उस दिन से सर्वशक्तिमान परमेश्वर मेरे सब कुछ हो गये।

उनमें विश्वास मेरी निजी और अमूल्य निधि है। वे सर्वसमर्थ हैं। उन्होंने मुझे रूपांतरित किया है। उनसे जुड़ाव के क्षणों में मैं स्वयं को अविचलित और निर्भीक पाता हूं। घटना-प्रवाह कैसा भी हो, मेरे भीतर रोशनी होती है।

मेरे तेरहवें जन्मदिन पर मेरे १५ वर्षीय भैया कर्टिस ने 'साइकॉलोजी टुडे' का

सालाना सब्सक्रिपशन मुझे भेंट किया। उन दिनों टी.वी. पर आ रहे सायकैट्री के कार्यक्रमों में मेरी दिलचस्पी देखकर उन्होंने यह उपहार पसंद किया। वे स्कूल के बाद एक छोटी सी नौकरी करते थे। उसकी मामूली आय से उन्होंने कितनी मुश्किल से सब्सक्रिपशन का पैसा जोड़ा होगा। साइकॉलजी टुडे के हर अंक का मैं बेताबी से इंतजार करता। उसे पढ़कर मैंने कुछ ऐसे तरीके सीखे जिससे मैं अपने हम उम्र बच्चों के मानसिक संताप को कम कर पाता था। मैं उन बच्चों से प्यार से बात करता, 'तुम्हें क्या बात परेशान कर रही है ?' या तुम इस बारे में बात करना चाहोगे ? मैं ध्यान से उनकी बात सुनता। यह सब उन्हें बहुत अच्छा लगता।

मां हम दोनों भाइयों पर खूब ध्यान देती। वे सीधे-सीधे उपदेश देने की बजाय कविताएं और प्रसिद्ध सूक्तियां याद करातीं और सुनाती रहतीं। पीछे मुड़कर देखता हूं तो विस्मय होता है। उन्होंने **राबर्ट फ्रॉस्ट** की खासी लंबी कविता **'द रोड नॉट टेकन'** मुझे सुनाने के लिये याद की। वे अक्सर एक कविता बोलती **'यू हैव योर सैल्फ टू ब्लेम।'**

यह कविता ऐसे लोगों के बारे में थी जो अपने जीवन के लिये औरों को जिम्मेवार मानते हैं। यह कविता मुझे भी बहुत प्रिय थी। उससे मैंने सीखा कि हम अपने निर्णयों से अपना भविष्य स्वयं ही बनाते हैं।

नवीं कक्षा में मेरी इंग्लिश टीचर **श्रीमती मिलर** ने मुझे अच्छे साहित्य की पहचान सिखाई। वे क्लास के बाद मुझे बुलातीं और पिछले पीरियड में हुई मेरी अशुद्धियों को ठीक करवातीं। दसवीं में यारी-दोस्ती की वजह से जब मेरे ग्रेड्स में गिरावट आयी तो वे हताश थीं। हालांकि वे अब मुझे नहीं पढ़ाती थीं किन्तु वे मुझसे संपर्क बनाये रखती थीं। वे भांप गयी थीं कि लापरवाह और उदासीन रवैये के कारण ही मेरे परीक्षा-परिणाम गिरे हैं। उनकी वेदना का कारण बनना मुझे सालता था। यारी-दोस्ती में भटक जाने से मुझे अपनी मां की मायूसी तो खली ही किन्तु **श्रीमती मिलर** का निराश होना मुझे अधिक अपराध-बोध से भर रहा था।

मुझे अहसास हो रहा था कि अपने लिये मैं ही उत्तरदायी हूं। दोस्त मुझे तब तक प्रभावित नहीं कर सकते जब तक मैं न चाहूं। मैं उन मित्रों की सोहबत से विमुख होता गया। अब मैं मनोयोग से पढ़ रहा था। बॉयोलोजी के शिक्षक फ्रैंक मकाटर मुझे अतिरिक्त समय देकर विषय की बारीकियां सिखाते थे। वे श्वेत अध्यापक थे। मेरे ज्ञानवर्द्धन के लिये वे मुझसे अन्य विद्यार्थियों के लिये प्रयोग डिजाइन करने को कहते और बायोलोजी लैब का संचालन भी सौंप देते।

संगीत के शिक्षक श्री डोक्स अश्वेत थे और जानते थे कि मुझमें संगीत सीखने की प्रतिभा है। किन्तु उनका जवाब संतुलित होता, 'कार्सन, पहले पढ़ाई। बाद में और कुछ। वे साहसी अश्वेत टीचर थे और नकारात्मकता का सामना दृढ़ता से करते थे।

कुछ वर्ष पहले मां ने टी.वी. देखने पर पाबंदी लगा दी थी। उनका आदेश था कि हमें हर सप्ताह दो पुस्तकें पढ़नी होंगी और दो या तीन टी.वी. कार्यक्रम ही देखने की इजाजत होगी। मैंने उनका कहना माना।

मेरा एक पसंदीदा कार्यक्रम था- **कॉलेज बोल** । यह संडे क्विज़ शो था जिसमें विभिन्न कॉलेजों के मेधावी छात्र शरीक होते और जटिल प्रश्नों का सामना करते। मैं सारा सप्ताह रविवार शाम की प्रतीक्षा करता। एक ख्वाब मन में उदय हो चुका था-मैं इस क्विज़ शो में भाग लूंगा। शरीक होने की शर्त थी-चहुमुंखी जानकारी।

कर्टिस भैया जिस साइंस लैब में पार्ट टाइम काम करते थे, वहीं उनके बाद मुझे भी छोटी सी नौकरी दे दी गयी। मेरी अभिरुचि देख विज्ञान शिक्षकों ने मुझे अच्छी पुस्तकें और लेख पढ़ने को दिये। वे मुझे प्रेम से अतिरिक्त समय में पढ़ाते। मुझे कला क्षेत्र में अभी और जानकारी बटोरनी थी। स्कूल के बाद मैं डैट्रायट इंस्टीट्यूट ऑव आर्ट्स जाता और वहां बारबार गलियारों में घूमता जब तक कि वहां प्रदर्शित सभी पेंटिंग्स से वाकिफ न हो जाता। लायब्रेरी जाकर कलाकारों के बारे में अतिरिक्त सामग्री पढ़ता। कुछ ही समय में मैं जाने-माने कलाकारों, उनकी कलाकृतियों और उनके पैंटिग स्टाइल्स के बारे में जानने लगा। वे पेंटर्स कहां रहते थे, उन्हें ट्रेनिंग किससे मिली थी आदि पहलू भी मुझसे अछूते न रहे।

अब बारी थी शास्त्रीय संगीत की। क्विज़ शो जीतने के लिये इस किले को फतह करना भी जरूरी था। मैं बगीचे की सफाई करते या घास काटते हुए पोर्टेबल रेडियो पर क्लासिकल म्यूजिक सुनता रहता एक अश्वेत किशोर को ऐसा उत्कृष्ट संगीत सुनते हुए देखना लोगों के लिये अटपटा दृश्य होता क्योंकि मेरे हम उम्र बच्चे नये ज़माने के तराने सुनना पसंद करते थे।

खैर... सच यह था कि शास्त्रीय संगीत मुझे भी प्रिय न था। कर्टिस भैया ने मुझमें यह शौक गढ़ा। वह उन दिनों नेवी में थे और दो सप्ताह के लिये घर आये हुए थे। वे दिन भर क्लासिकल म्यूज़िक का एक रिकार्ड बजाते। मैं उकता जाता। वे उसके बारे में कुछ समझाते तो मेरे पल्ले कुछ न पड़ता। किन्तु अंतत: मैं उस रंग में रंग ही गया।

मैं संगीत की गहराइयों में उतरता चला गया-जर्मन, इटैलियन, ओपरा आदि बहुत कुछ। अब सुरमय जीवन में चुंबकत्व था। मैंने क्लासिकल को तो नियमित सुना ही, संगीत की अन्य शैलियों को भी जाना।

टी.वी. के क्विज़ शो में भाग लेने के

लिये मैंने तमाम पापड़ बेले किन्तु उस कार्यक्रम में कभी जा नहीं सका।

कर्टिस भैया ने रिज़र्व ऑफिसर्स ट्रेनिंग कैम्प (आरओटीसी) में कैप्टन का रैंक हासिल किया था। यह किशोर वय के विद्यार्थियों में नेतृत्त्व क्षमता, बहुआयामी चिंतन, स्ट्रैटेजिक प्लानिंग और प्रोफेशनल एथिक्स के विकास की राह प्रशस्त करती है। एक प्रतिभावान आर ओटीसी सदस्य से मेरी मुलाकात हुई। नाम था- शार्पर। वह विद्यार्थी कर्नल के पद पर सुशोभित था। उसके आत्म-विश्वास, परिपक्व स्वभाव और लोकप्रियता को देख मैं मुग्ध था। मन में विचार उपजा-अगर शार्पर स्टूडैंट कर्नल बन सकता है तो मैं क्यों नहीं ? मैंने संकल्प लिया कि मैं कर्नल बनूंगा।

मैं दसवीं के उत्तरार्द्ध में आरओ टीसी में शामिल हुआ था। अब मेरे पास ढाई वर्ष थे अर्थात पांच सैमिस्टर। एक सामान्य विद्यार्थी को आरओ टीसी में ६ सैमिस्टर मिलते थे। शीर्ष को छूने के लिये मेरे पास समय कम था किन्तु मैंने इसे चुनौती के रूप में लिया। राइफल टीम और ड्रिल टीम में रहकर मैंने खूब मैडल जीते। नतीजा-तेजी से प्रमोशन। जब मैं मास्टर सार्जेंट था तो मुझे फिफ्थ आवर आरओटीसी यूनिट का इंचार्ज बनाया गया। उसके सदस्य इतने बिगड़ैल लड़के थे कि और कोई छात्र सार्जेंट उनकी कमान नहीं संभाल पा रहा था।

मेरे इंस्ट्रक्टर सार्जेंट बैंडी ने मुझे बुलाकर कहा, 'कार्सन, अगर तुमने इस कठिन काम को कर दिया तो मैं तुम्हें सैकिण्ड लैफ्टिनेंट बना दूंगा।' अंधा क्या चाहे, दो आंखें। मैंने उन विद्यार्थियों की अच्छे से पड़ताल की और यह जाना कि उन्हें क्या अच्छा लगता है। फिर क्लासेज और एक्सरसाइज को कुछ ऐसे विभक्त किया कि बढ़िया टीचिंग सैशन के बाद हर छात्र को अपनी पसंद का ड्रिल रूटीन मिले। लड़के खुश होकर पूरे कार्यक्रम में भाग लेते।

दूसरे, मैंने शब्द-बाणों का सहारा लिया। बिल्कुल वैसे ही जब मुझे साधारण कपड़ों के लिये हिकारत से देखा जाता था तो मैं शाब्दिक वार से 'शत्रुओं'को पछाड़ता था। अब फिफ्थ-ऑवर यूनिट के विद्यार्थी जानते थे कि अगर उन्होंने अच्छे से काम नहीं किया तो मैं कटु व्यंगात्मक शब्द-तीरों से उन्हें बेध दूंगा। इस शर्मिंदगी से बचने के लिये वे कहना मानते। काम करवाने का सर्वश्रेष्ठ तरीका भले यह न हो, पर यह कारगर था।

मैं कई सप्ताह तक अपनी यूनिट के साथ मेहनत करता रहा। एक दिन सार्जेंट ब्रैंडी ने मुझे बुलाकर कहा, **'कार्सन, फिफ्थ आवर क्लास स्कूल की सर्वश्रेष्ठ यूनिट है। तुमने अच्छा काम किया है।'** और वायदे के मुताबिक उन्होंने मुझे तीन सैमिस्टर बाद सैकिंड लैफ्टिनेंट बना दिया। स्कूल विस्मित था-छात्र सामान्यत: चार सैमिस्टर में सैकिंड लैफ्टिनेंट बनते थे और अधिकांश तो छह सैमिस्टर में भी नहीं।

अब सार्जेंट हंट मेरे नये दिशा निर्देशक थे। वह हमारी यूनिट के पहले अश्वेत इंचार्ज थे। उन्होंने मेरी नेतृत्त्व क्षमता और शैक्षणिक योग्यता को देख मुझे तराशना शुरु किया। वे मुझे आर्मी आफिसर्स द्वारा लिये जाने वाले इंटरव्यू के बारे में बहुत कुछ सिखाते और ताकीद करते, 'कार्सन, तुम्हें इन पहलुओं पर महारत हासिल करनी होगी।'

इम्तहान में ट्रेनिंग मैनुअल से बड़ी बारीकी से सवाल पूछे गये। मैं कमर कसे 'युद्ध' में उतरा था। शहर के २२ स्कूलों के छात्र प्रतिनिधियों में मैं अव्वल रहा। अब मैं लैफ्टिनेंट कर्नल था। सबके लिये यह एक आश्चर्यजनक उपलब्धि थी।

बारहवीं का आखिरी सैमिस्टर शुरु हो रहा था। कर्नल बनने की संभावनाएं जीवित थीं। समूचे डैट्रायट में तीन विद्यार्थी ही कर्नल रैंक तक पहुंच पाते थे। मैं उनमें से एक होना चाहता था। मैंने पुरजोर कोशिश जारी रखी। एक और निर्णायक परीक्षा और मैंने आसमां छू लिया। न जाने कितनी बार कर्टिस भैया को मन ही मन धन्यवाद दिया-'मेरे भैया, आपसे प्रेरित होकर मैंने यह यात्रा आरंभ की थी। मैं आपसे आगे अवश्य निकला हूं किन्तु अगर आप इस राह पर न चले होते तो मैं यह उपलब्धि कदापि हासिल न कर पाता।'

बारहवीं के अंत में मैं मैमोरियल डे परेड का गौरवान्वित सदस्य था। मेरा सीना तमगों से जगमगा रहा था। लब्ध प्रतिष्ठ अमरीकी सैनिक उस उत्सव की शोभा बढ़ा रहे थे। मुझे उनके साथ रात्रि भोज का आमंत्रण मिला और मिली एक आकर्षक छात्र-वृत्ति। किन्तु इस मौद्रिक मदद का अर्थ था सेना में चार साल बिताना। और मैं मन-प्राण से डॉक्टर बनना चाहता था।

मैं ग्यारहवीं और बारहवीं में कक्षा में शीर्षस्थ था। अमरीका के प्रतिष्ठित कॉलेज येल, हार्वड आदि मुझे निमंत्रित कर रहे थे। मैं वही निर्धन, पितृविहीन, अश्वेत बालक था जिस पर आज संसार विस्मित-विमुग्ध था। ❑

कॉलेज पहुंचकर बेन कार्सन को अहसास हुआ कि बहुत से सहपाठी उनसे कहीं अधिक कुशाग्र हैं और प्रोफेसर्स का पढ़ाने का ढंग खासा चुनौतीपूर्ण। उनका संघर्ष अभी थमा नहीं था। पढ़िये अगले अंक में....

अपर्णा मक्कड़
१२४, आनन्द नगर
मिलन होटल के पास, सिरसी रोड
जयपुर- ३०२०१२

शिक्षा दर्शन में समरूपता गांधी-ठाकुर

❑

डॉ. विश्व विजया सिंह

गुरुदेव और गांधी का स्मरण इन दिनों एक साथ हो रहा है। कारण यह है कि हम गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक सौ पचासवीं जयन्ती मना रहे हैं। इस अवसर पर मनन करते हुए उन दोनों के विचार संसार पर एक विवेचनात्मक लेख प्रस्तुत कर रही हैं विश्व विजया सिंह।
विजयाजी विद्या भवन में अध्यापिका रही हैं और शिक्षकों एवं शिक्षा चिन्तकों के चिन्तन में अवगाहन उनका व्यसन सा बन गया है।
गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर सौन्दर्य के उपासक थे और गांधीजी सत्य के उपासक थे। जो सत्य होता है वह स्वयं सुन्दर होता है और जहां-जहां सत्य होता है वहां सौष्ठव और सौन्दर्य की रचना स्वत: होती रहती है। गुरुदेव बापू का बहुत मान सम्मान करते थे। उनको सबसे पहले महात्मा का संबोधन गुरुदेव ने ही दिया था। प्रस्तुत है उन दोनों की वैचारिक जुगलबंदी का एक विवेचन। ❑ सं.

सन् १०१५ में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आने पर गांधीजी अपने साथियों के साथ कुछ समय शांति निकेतन में रहे थे। वहां उन्होंने स्वावलम्बन का प्रयोग किया, जिसके संदर्भ में **गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि इसमें स्वराज्य की चाबी मौजूद है।

१९३७ में **गांधीजी** ने नयी तालीम के नाम से **उद्योग केन्द्रित स्वावलम्बी शिक्षा** का प्रारूप देश के सामने रखा। उनके अनुसार-नयी तालीम तो जीवन की तालीम होनी चाहिए या दूसरे शब्दों में कहें तो यह जीवन के लिए जीवन द्वारा शिक्षण है। नयी तालीम कर्म द्वारा, ग्रामोद्योग द्वारा और स्वावलम्बन द्वारा शिक्षा है। वे शिक्षा के द्वारा ऐसे नागरिक उत्पन्न करना चाहते थे जो स्वावलम्बी हों, आत्माभिमानी और संयमी हों।

गुरुदेव ठाकुर का भी मानना था कि बालक निष्प्राण मूर्तियों की तरह न रहकर सक्रिय रचनात्मक कार्य करें। अपने लिए स्वयं ज्ञान कूप खोदें, पानी भरें और पीएं। इस कार्य में अध्यापक उनका पथ-प्रदर्शन करता रहे।

रवीन्द्रनाथ का शिक्षादर्शन और विश्वभारती के लेखक **श्री सव्यसाची भट्टाचार्य** के अनुसार **छात्र के व्यक्तित्व निर्माण और जीवन निर्वाह दोनों के साधन के रूप में कर्म शिक्षा पर गांधी का जोर, ठाकुर के श्री निकेतन के ग्रामीण स्कूल के निर्माण के मूल में स्थित विचारों से मिलता-जुलता था।** ऐसा लगता है, ग्रामीण शिक्षा के **ठाकुर** के विचार (व्यावसायिक शिक्षा में व्यावहारिक प्रशिक्षण, शारीरिक श्रम आदि पर जोर) और बेसिक शिक्षा की वर्धा योजना में मूर्त **गांधी** की कर्म शिक्षा की धारणा में समरूपता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के मतानुसार बच्चों का पूरा शरीर अभिव्यक्तिमय होता है। स्कूल

में बैठे-बैठे सोचने को कहा जाता है। बच्चे निष्क्रिय बैठे विचार ग्रहण करने की आदत जल्द ही सीख लेते हैं। तब उनके मस्तिष्क को शारीरिक क्रिया की सहायता के बगैर ही सोचना पड़ता है। लेकिन सृजनात्मक कार्यों में मस्तिष्क समायोजक की तरह काम करता है। हम सोचने और व्यक्त करने के क्रम में श्रेष्ठ को प्राप्त करते हैं।

गांधीजी ने भी अपने शैक्षणिक प्रयोगों के माध्यम से यह अनुभव प्राप्त किया था कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ,पांव,कान,आंख आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है। पुस्तकों के अध्ययन से नहीं। वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में शरीर,हृदय और बुद्धि के बीच मेल न होने का अत्यंत विनाशकारी परिणाम हुआ है । यदि बचपन में बालकों के हृदय की वृत्तियों को उपयुक्त दिशा में मोड़ दिया जाये, उन्हें खेती, चरखा आदि के उपयोगी व उत्पादक काम में लगाया जाये और जिस उद्योग से उनके शरीर में कसाव आए, उस उद्योग की उपयोगिता तथा उसमें काम में लाए जाने वाले औजारों की बनावट आदि की जानकारी दी जाय, तो बुद्धि का विकास स्वाभाविक रूप से होगा। शरीर, बुद्धि और हृदय अर्थात् आत्मा तीनों के समान विकास से ही मनुष्य का मनुष्यत्व सधता है ।

गांधी की बेसिक शिक्षा की अवधारणा के प्रति ठाकुर की प्रतिक्रिया समर्थन की ही थी, हालांकि वे हस्तशिल्प में व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अतिरिक्त जोर और क्रीड़ा और कलात्मक सृजन की बहिष्कृति की आलोचना करते थे।
(विश्वभारती न्यूज जनवरी १९३८)

आधुनिक शिक्षाशास्त्री तथा तमाम मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मातृभाषा में शिक्षण दिए जाने से विद्यार्थी सहजता, स्पष्टता तथा शीघ्रता से सीखते हैं और यह सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया भी

आज की शिक्षा में तो बच्चों के दिमाग़ में अधिक से अधिक सूचनाएं व जानकारी ठूंसने का ही कार्य किया जाता है। वह विचार करना तो सिखाती ही नहीं है और जो शिक्षा विचार करना नहीं सिखाती वह सही अर्थों में व्यर्थ है। इसके अलावा विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने में दिमाग़ पर जो बोझ पड़ता है वह असह्य है। इसके अलावा विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के कारण हम अपनी भाषाओं को भिखारी बना रहे हैं। इससे हमारे घरवाले और आसपास के लोग भी उस ज्ञान से वंचित रह जाते हैं।

है। भाषा के रूप में अंग्रेजी ही नहीं, किसी भी अन्य भाषा को सिखाने के प्रति गांधीजी का कोई विरोध नहीं था । किन्तु शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए तथा दूसरी भाषा भी प्राथमिक शिक्षा के बाद ही सिखाई जानी चाहिए ।

गांधीजी का स्पष्ट मत था कि आज की शिक्षा में तो बच्चों के दिमाग़ में अधिक से अधिक सूचनाएं व जानकारी ठूंसने का ही कार्य किया जाता है। वह विचार करना तो सिखाती ही नहीं है और जो शिक्षा विचार करना नहीं सिखाती वह सही अर्थों में व्यर्थ है। इसके अलावा विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने में दिमाग़ पर जो बोझ पड़ता है वह असह्य है। इसके अलावा विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के कारण हम अपनी भाषाओं को भिखारी बना रहे हैं। इससे हमारे घरवाले और आसपास के लोग भी उस ज्ञान से वंचित रह जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को ही माना जाये क्योंकि विद्यार्थियों में मौलिक रचनात्मक चिन्तन उत्पन्न करने के लिए यह बहुत आवश्यक है।

१८९२ में अपने एक लेख **'शिक्षार हेरफेर'** में उन्होंने शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा बंगला को अपनाने की वकालत की । उनका मानना था कि जब तक छात्रों और अध्यापकों की मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम न बनेगी, तब तक भारत में आधुनिक विश्वविद्यालय अलग-अलग पड़े रहेंगे। वे भारत में होंगे लेकिन भारतीय समाज के न होंगे ।

रवीन्द्रनाथ और गांधी दोनों की शिक्षा में प्रकृतिवादी विचारधारा के समर्थक थे। रवीन्द्रनाथ का मानना था कि सीखने के लिए प्रकृति की गोद अपेक्षित है, जहां वे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की स्वयं खोज करें, अपनी कठिनाइयों का समाधान ढूंढें और जीवन बिताने की बजाय जीवन जीना सीख लें ।

गुरुदेव ने शिक्षा में प्रकृति को अनेक दृष्टिकोणों से उपयोगी माना । उनके अनुसार प्रकृति स्वयं ही बड़ी मनोहारिणी और आकर्षक होती है । उसके मनोहर दृश्य, भौंरों का गुनगुनाना,झरनों का मधुर संगीत,पुष्पों की भीनी-भीनी सुगन्ध किसके क्लांत मन को शांति नहीं देती । अत: कलरव से दूर, प्रकृति की गोद में ही विद्यालय स्थित होने चाहिए ताकि बालकों में नवस्फूर्ति एवं शुद्धिकरण का अनायास ही प्रवेश हो जाए।

बचपन की भावनाएं, कल्पनाशक्ति के

अपने वरदान की तरह ही जिधर मार्ग पाती हैं, बह निकलती हैं। इसीलिए बच्चे को गीत, संगीत, कविता और अगर वह चाहे तो नाटक और नृत्य की दुनिया में यात्रा करने की पूर्ण आजादी होनी चाहिए। उसे रंग, रेखा या चित्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति प्रकट करने देना चाहिए । नाटक का प्रदर्शन और अभिनय कला का अभ्यास सभी बच्चों के लिए अनिवार्य होना चाहिए। बच्चों को शरीर के सम्पूर्ण और सुचारू संचालन के जरिए भावनाओं की अभिव्यक्ति का मौका दिया जाना चाहिए ।

गांधीजी जीवन में संगीत का स्थान महत्वपूर्ण मानते थे । वे किसी भी शिक्षा योजना मं संगीत को आवश्यक मानते थे। उनका आग्रह था कि संगीत की शिक्षा का आरम्भ प्राथमिक शिक्षा से ही होना चाहिए। राष्ट्र के भावी नागरिकों के जीवन-कार्य की पक्की बुनियाद डालनी हो, तो कवायद (व्यायाम), उद्योग,चित्रकारी और संगीत जरूरी है।

उन्होंने कहा कि शिक्षा का माध्यम ही किसी उद्योग को बनाना चाहिए और चुने हुए उद्योग के माध्यम से सभी विषयों की शिक्षा देनी चाहिए । शारीरिक श्रम द्वारा ही बच्चों का मानसिक विकास होना चाहिए। उद्योग को केन्द्र में रखकर दी जानेवाली शिक्षा का प्रधान उद्देश्य बालका का सर्वागीण विकास है और आर्थिक स्वावलम्बन उसका आवश्य परिणाम।

यह निर्विवाद तथ्य है कि बुनियादी शिक्षण योजना में शिक्षक की भूमिका अतिशय महत्वपूर्ण व केन्द्रीय है । शिक्षक की तालीम ऐसी होनी चाहिए कि चन्द दस्तकारियों का अमली और शास्त्रीय दोनों तरह का ज्ञान उसके पास हो। यह भी जरूरी है कि शिक्षक अपने आस पास के समाज के जीवन और उनकी प्रवृत्तियों में दिलचस्पी रखतें हों तथा स्कूल के बीच गहरा संबंध है, उसे अच्छी तरह समझते हों।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार जिनमं सहिष्णुता की भावना होती है, केवल ऐसे लोग अध्यापक होने के योग्य होते हैं। जिनका बच्चों से प्यार भरा लगाव होता है, उनमें धैर्य स्वभावत: आ जाता है। अध्यापकों को जिस अन्तर्निहित गंभीर समस्या से जूझना पड़ता है, वह यह है कि उन्हें जिनको देखना है, वे शक्ति और प्रभुता में उनकी बराबरी के नहीं होते। अध्यापक के लिए एकदम तुच्छ या बिना किसी कारण के या फिर वास्तविक के बजाय किसी काल्पनिक कारण के चलते, अपने छात्रों के सामने धैर्य खो देना, उनकी खिल्ली उड़ाना, उन्हें अपमानित या दंडित करना एकदम आसान और संभव है। जहां कहीं छात्रों को गंभीर रूप से दंड देने के उदाहरण मिलते हैं, उनमं से अधिकांश मामलों में अध्यापक ही दोषी होते हैं। इसकी वजह यह है कि वे खुद कमज़ोर दिमाग़ के होते हैं। इसीजिए अकारण कड़े होकर अपने कर्त्तव्यों और कार्यभारों से छुट्टी पा लेते हैं। क्षमा करना बहादुरी का ही विशेषाधिकार है, अगर धीरज की कमी है तो नैतिक बल का अभाव निश्चित है।
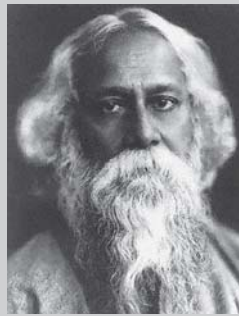
बच्चे को गीत, संगीत, कविता और अगर वह चाहे तो नाटक और नृत्य की दुनिया में यात्रा करने की पूर्ण आजादी होनी चाहिए। उसे रंग, रेखा या चित्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति प्रकट करने देना चाहिए । नाटक का प्रदर्शन और अभिनय कला का अभ्यास सभी बच्चों के लिए अनिवार्य होना चाहिए।

गुरुदेव ने शिक्षा को दो ध्रुवीय क्रिया माना है, जिसमें शिक्षक एवं विद्यार्थी की प्रमुखता है। दोनों के विचारों और भावों का शिक्षा की प्रक्रिया में आदान-प्रदान बहुत आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना उनका मानसिक सम्मिलन संभव नहीं है।

शिक्षा तो सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा होनी चाहिए । बच्चे अपने आसपास के वातावरण में संपर्क स्थापित करने की उत्कृट जिज्ञासा दिखाएं। उन्हें चारों तरफ से वस्तुओं को खोजना, शोधना और इकट्ठा करना चाहिए । अध्यापक भी निरीक्षण करें, खोजें और पाठ्यक्रम की किताबों से बाहर देख सकें और प्रत्यक्ष अनुभव में आनंद ग्रहण करें।

शाश्वत मूल्यों में दोनों की दृढ़ आस्था थी। गांधीजी ने सत्य और अहिंसा पर बहुत बल दिया । सत्य प्राप्ति के लिए अहिंसा, विश्वप्रेम और मानव-सेवा ही साधन है।

गुरुदेव ने शिक्षा को आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि पर आधारित किया है। वे शिक्षा को बालकों के सर्वागीण विकास का साधन मानते हैं। शिक्षा मस्तिष्क को अंतिम सत्य को पाने योग्य बनाती है। शिक्षा का उद्देश्य बालकों को स्वावलम्बी बनाना, संयमी बनाना,विश्वबंधुत्व के सिद्धान्त को अपनाना और शाश्वत सत्यों की खोज करना है। ❑

१७ टेक्नोक्रेट सोसायटी
बेदला रोड,पो.ओ.बड़गांव
उदयपुर ३१३००१ मो.
९३१४४५१३०७

शाश्वत-यात्रा

❑

भारत भूषण

भूकम्प हो या आग हो
तूफान हो या बाढ़ हो
सहता हुआ चलता सभी
जीवन ठहरता ही नहीं।

एटम गिरे लाखों मरे
जापान फिर जापान है
हर त्रासदी दो चार दिन
की राक्षसी मेहमान है
कुछ भी ढहे कुछ भी बहे
सब रास्ते के दृश्य हैं
बस देखता चलता सभी
जीवन ठहरता ही नहीं।

ये ताज सिंहासन पडे
आधे गिरे खंडहर खडे
कुछ शब्द पत्थर पर खुदे
हैं पीढ़ियों से बेपढ़े
प्रत्येक युग के वृक्ष पर
ये काल के पद चिह्न हैं
इतिहास ठहरेगा यहां
जीवन ठहरता ही नहीं।

हर धर्म जो वाणी बना
सब अंतत: भाषण हुआ
आंधी उड़ाकर ले गयी
अभिशाप हो या हो दुआ
हर एक दिन बहरा रहा
हर शाम भी गूंगी रही
शायद किरन ठिठके कहीं
जीवन ठहरता ही नहीं।

गाण्डीव हो या शारङ्ग हो
या फिर सुदर्शन, नाम हो
क्षण वर्ष बन-बन खो गये
रातें रहीं निष्काम हैं
कब कौन आया या गया
हैं होठ क्षितिजों के सिले
ठहरी हुई सृष्टि पर
जीवन ठहरता ही नहीं। ❑

नवनीत जनवरी, २०१२ अंक से साभार

आंगन का आमंत्रण

आवरण दो एवं तीन फोटो - रवि, जयपुर

संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक रमेश थानवी के लिए कुमार एण्ड कम्पनी, जयपुर में मुद्रित

रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नई दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका | RNI 43602/77

वृंदावन की एक गली

फोटो - सपना महेश, जयपुर